TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186696

UNIVERSAL
LIBRARY

लबड़ धौं धौं !

सम्पादकः—
श्रीकण्ठ शास्त्री

स्थायी
भूमिव
आर्रा

पं० र
डबल

म०
पं० ३
म०
पं०
म०
पं०
म०
दया
पं०
शार

परिशिष्ट

महावीर स्पष्टीकरण-

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H294.5348 U65D Accession No. P. G. H21

Author उपाध्याय, अतीकण्ठ. संपा

Title दयानन्दियों की लखड धौं धौं.

This book should be returned on or before the date last marked below.

दयानन्दियों की—

लबड़ धौं धौं !

(अर्थात्—लखनऊ के मूर्तिपूजाविषक 'प्रामाणिक शास्त्रार्थ' में
दयानन्दी समाज की छिछालेदार छत्तीस हार)

सम्पादक—

पं० श्रीकण्ठ उपाध्याय

समाजी कैंप में हर तर्फ थलका मच रहा भारी।
बड़ा आफ़त का पुतला है यह पण्डित माधवाचारी ।।
तुझे बदनाम करने को जो भौंदू कर रहे 'भौं भौं'।
ज़रा तू भी बतादे खल्क़ को इनकी 'लबड़ धौं धौं'।।

प्रकाशक—

माधव पुस्तकालय

धर्मधाम कमलानगर, देहली

मुद्रक—श्रीकण्ठ शास्त्री व्याकरणाचार्य
धर्मधाम कमलानगर देहली

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

प्रस्तुत शास्त्रार्थ सन् १९३७ में हुवे थे, जो सन् अड़तीस के आरम्भ में ही पहिले आर्यसमाजकी ओर से 'प्रमाणिक शास्त्रार्थ' नाम से अण्ड बण्ड रूपमें छापे गए थे, पश्चात् सनातन धर्म की ओर से 'दयानन्दियों की लबड़ धौं धौं' नाम से यथार्थ रूप में प्रकाशित किये गए थे। H 2705 P. O.

जैसे मुसलमान कलम का उत्तर कलम से न दे सकने पर छुरे बाजी पर उतारू हो जाते हैं ठीक इसी प्रकार आर्यसमाजी भी अपनी सैद्धान्तिक निर्बलता के कारण सनातन धर्मियों के व्याख्यानों और ग्रन्थों का उत्तर न दे सकने की दशा में लड़ाई झगड़ा और कचहरी का दर्वाजा खटखटाने की पामरता दिखाया करते हैं। यह नग्न सत्य है कि शास्त्रार्थ महारथी श्री पं० माधवाचार्य शास्त्रीजी की लोह लेखनी से लिखे किसी भी पुस्तक का उत्तर दे सकने की आज तक किसी दयानन्दी की हिम्मत नहीं हुई है। यद्यपि इन कई पुस्तकों पर उत्तर दाता महाशयों को सहस्रों रुपया पुरस्कार देने की घोषणाएं छप चुकी हैं।

खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे—'लबड़ धौं धौं' पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर भी युक्तियुक्त खण्डन कर सकने वाले महाशय के लिए सौ रुपया पुरुस्कार की घोषणा छपी थी परन्तु महाशय बिहारीलाल आर्योपदेशक (बदायूं) उसपर कलम न उठा सकने की अपनी निर्बलता के कारण अपने मस्तिष्क का सन्तुलन सर्वथा

खो बैठे और मुद्रक तथा प्रकाशक पर बदायूं की अदालत में मानहानि का दावा कर बैठे।

शास्त्रार्थ जैसे विशुद्ध धर्मयुद्ध में इस ओछे हथियार का प्रयोग करने के लिए 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की विडम्बना पूर्ण गर्वघोषणा करने वाले एक आर्य्योपदेशक नामधारी महाशय को तत्कालीन एक मुहम्मडन मजिस्ट्रेट के सामने किस प्रकार 'त्राहि माम्' करतेहुए आत्मवञ्चना करनी पड़ी यह कोई भी स्वाभिमानी सुतरां अनुभव कर सकता है। यद्यपि इस मुकदमे से आचार्य्य जी का कुछ भी साक्षात् सम्बन्ध न था क्योंकि लेखक, प्रकाशक और मुद्रक तीनों ही अन्य सज्जन थे तथापि नैतिकता का तो यह तकाजा था कि जिन शास्त्रार्थों के कारण दयानन्दियों को यह बदबू फैलाने का अवसर मिला है उनके अन्यतम वादी स्वयं आचार्य्य जी थे। अतः इसका उचित प्रतिकार करना आवश्यक था।

आचार्य्य जी का सदैव यही उदार उद्देश्य रहता है कि सनातन धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा के लिये तो प्रतिपक्षियों का उग्र से उग्र दमन करने में कोई कोर कसर बाकी नहीं रखनी चाहिये, परन्तु सिद्धान्त सीमा से बाहिर मतप्रवर्तक या तदनुयायी महाशयों को व्यक्तिगत बातों के कथन किंवा उल्लेख से अपमानित करना अनावश्यक ही नहीं किन्तु अनुचित भी है। यही कारण है जीवन भर में अगणित शास्त्रार्थों में दयानन्दी महाशयों का मुखमर्दन करने के बावजूद भी अन्य सनातनधर्मी शास्त्रार्थियों की अपेक्षा श्री आचार्य जी के साथ आर्य्योपदेशकों के सम्बन्ध अतीव सौहार्द पूर्ण हैं। अस्तु मुकदमा आर्य समाज की ओर से किया गया था उसका जवाब दावा सनातन धर्मियों की ओर से होना

था। वकीलों की सम्मति से अन्यान्य प्वाइन्टस् की भान्ति जवाब दावे में यह भी प्रकट करना आवश्यक था कि उक्त महाशय जी स्वयं कितनी प्रतिष्ठा के मालिक हैं जिसके कि उक्त ट्रैक्ट से भंग होने की बात कही जाती है। एतदर्थ महाशय जी के जन्म से लेकर मुकद्दमा दायर करने की तिथि तक के गुप्त प्रकट अनेक चरित्रों का संकलन स्वर्गीय श्री प्यारेलाल शास्त्री (मेरठ) ने किया। पहली पेशी कल होने वाली थी। इसी बीच पं० बिहारीलालजी से अचानक भेंट हो गई। उन्होंने आचार्य जी से बड़े अपने पनके टोन में शिकायत की कि देखिये मैंने तो भरी सभा में शास्त्रार्थ के अन्त में आप के सम्बन्ध में अतीव सम्मान पूर्वक यहाँ तक कहा था कि शास्त्रार्थ में मैंने आचार्य जी से बहुत कुछ सीखा है। परन्तु आपने इस पुस्तक में मुझे दुलमुल पन्थी लिखकर अपमानित किया है। अभी आचार्य जी इसके उत्तर में कुछ सान्त्वनाप्रद बातें कहने ही चले थे कि श्री प्यारेलाल जी ने सांकेतिक व्यंग्यों में कह डाला कि अब तो दावा अदालत में पहुंच गया है कल आपकी प्रतिष्ठा की सब बातें बतानी ही पड़ेंगी अब शिकवा शिकायत का क्या प्रयोजन।

सहसा करि पाछे पछताहीं—शास्त्री जी के व्यङ्ग पूर्ण संकेतों से म० विहारी लाल जी अन्दर ही अन्दर बहुत चिन्तित हुए-वास्तव में बात भी चिन्ता की थी क्योंकि ऐसे मानहानि के अभियोगों में प्रतिपक्षी न चाहते हुए भी दावेदार के चारित्र्य को प्रकट करने के लिये बाध्य होता है। महाशय जी ने अन्धे जोश में दावा तो कर दिया परन्तु अब उस के कुपरिमाणों की भावि-कल्पनाओं से चिन्तित हो कर इस दलदल से यथा तथा पार निकल जाने को व्यग्र हो उठे। प्रातः काल का भूला सायं घर लौट

आए तो अच्छा ही होता है। दूरदर्शिता ने आप की ठीक अवसर पर सहायता की। बदायूं नगरके कुछ प्रतिष्ठित नागरिकों, सनातन धर्मियों और हिन्दु सभाइयोंसे मिलजुल कर मुकद्दमा खत्म हो जाने की दौड़ धूप की जाने लगी। कुछ भद्रपुरुषों ने मिलकर आचार्य्य जी से प्रार्थना की। स्वयं म० विहारीलाल जी ने भी कहा कि--हैदराबाद सत्याग्रह में मुझे भी जत्था लेकर जाना है ऐसी स्थिति में यह काण्ड समाप्त हो जाना चाहिये, आचार्य्य जो ने भद्रपुरुषों के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि महाशय बिहारीलाल जी ने ही अपने बनाये ट्रैक्ट में मुझपर अनेक व्यक्तिगत निर्मूल आक्षेप करने की पहिल की है। चाहिये तो था इसके लिए मुझे कोर्ट का दर्वाजे खट-खटाना, परन्तु मैं विशुद्ध शास्त्रीय धर्मयुद्ध में कचहरी की खाक छानना अपना उससे भी बड़ा अपमान मानता हूं। वाणी का उत्तर वाणी से और लेख का उत्तर लेख से देने ही में सनातन धर्म की शान है। अतः मैंने तो इस की उपेक्षा की परन्तु महाशय जी की कलममें यह शक्ति कहां कि वे लेख का उत्तर लेखनी से दे सकें। अतः किं कर्तव्य विमूढ़ होकर कोर्ट में जा पहुँचे—यदि ये अवसरवादी, कृष्णभक्त, और धनाभिलाषी होने में अपना अपमान अनुभव करते हैं तो हमें ऐसा कहने का ही क्या हठ है। यह कोई सैद्धान्तिक बात थोड़े ही है हम इनकी भावना के अनुसार उपर्युक्त विशेषणों के सर्वथा विपरीत शब्दों में इन्हें स्मरण करने को तत्पर हैं--हम कह सकते हैं कि उक्त महाशय जी जमाने की रफ्तार से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, कृष्ण के द्वेषी हैं और धन को छूते ही नहीं। अबतो इनकी विचित्र (?) प्रतिष्ठा की मरम्मत हो गई! परन्तु इन्होंने अपने 'प्रमाणिक शास्त्रार्थ' में विश्वविद्यालयों की अनेक उपाधि परीक्षाएं पास मुझ से व्यक्ति को 'देव वाणी के

प्रसाद से वञ्चित' लिखकर न केवल मेरा अपितु विश्वविद्यालयों का भी घोर अपमान किया है इस का क्या उपाय ! इसपर सभी समझौता कराने वाले सज्जनों के प्रस्तावानुसार महाशय जी ने पुस्तक के आदिम आठ पृष्ठ निकाल देने, और नवम पृष्ठ पंक्ति १३-१४ में छपे 'जो देववाणी के प्रसाद से वंचित थे' वाक्य को मिटा डालने का वचन देते हुए खेद प्रकाशन का लेख लिख कर मुद्रक के हवाले किया।

अतीव आग्रह पर आचार्य जी ने भी-उक्त अभियोग में स्वयं असम्पृक्त और तटस्थ होते हुए भी-महाशय जी की भ्रान्ति खेद प्रकाशनात्मक चन्द पंक्तियें लिखदीं। इस तरह दोनों पक्षों की ओर से वैधानिक रूप से खेद प्रकाशन हो जाने के बाद अदम पैरवी में दावा खारिज हो गया।

धाप की पराकाष्ठा---पूरे १६ वर्ष के बाद हापुड़में दयानन्दियों की ओर से 'प्रमाणिक शास्त्रार्थ' नामक एक ट्रैक्ट बांटा गया जिसमें यह छपा है कि पं० माधवाचार्य जी ने पं० विहारीलाल जी से बदायूं में क्षमा मांगी थी। ट्रैक्ट मंगाकर पढ़ा। म० विहारीलाल के अशिष्टता पूर्ण मिथ्याप्रचार पर दंग रहना पड़ा। यूं तो सत्यार्थ प्रकाश की आड़में मिथ्यार्थों को प्रकाश में लाना दयानन्दियों की परम्परागत पैतृक सम्पत्ति है तथापि सौ नम्बर के झूठ में अणु परमाणु कुछ तो सत्य होना चाहिये। यहां कितनी सचाई है पाठक अवलोकन करें।

'प्रमाणिक शास्त्रार्थ' के दूसरे संस्करण का

पर्दाफाश !

जो ट्रैक्ट हापुड़ में दयानन्दी समाज की ओर से बेचा गया है उसके आवरण पृष्ठ पर मोटा नाम 'प्रमाणिक शास्त्रार्थ' छपा है और उसके प्रकाशक लिखे हैं धर्मनिष्ट श्री राजाराम जी। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याधिष्ठाता श्री हरिदत्त शास्त्री ने एक पृष्ठ की भूमिका लिखी है जिसमें स्तुतिपाठक बन्दीगण की भान्ति दश पंक्तियों में पं० बिहारीलाल का स्तोत्रपाठ किया गया है और पांच पंक्तियों में अपना नाम धाम काम और छूछे टाइटलों का सामगान किया गया है। फिर प्रादेशिक सभा के भजनीक ठाकुर अमरसिंह ने अपनी एक मात्र दृष्टि 'लबड़ धौं धौं' पर डालने की ठकुराई दिखाई है। गोया कि उक्त ट्रैक्ट के आठ पेजों का कलेवर भरने के लिये सरङ्गी तबला बजा कर 'ताना री री' करने वालों से लेकर गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाताओं तक ने अपनी खोपड़ियों का गुदा निकाल डाला परन्तु फिर भी वे इस शास्त्रार्थ को प्रमाणिक से 'प्रामाणिक' बना सकने में समर्थ न हो सके। जिस समाज के गुरुकुलों के मुख्याधिष्ठाता प्रमाणिक और प्रामाणिक शब्दों की शुद्धता के ताद्धित ज्ञान से सर्वथा शून्य हों और शहतीर जैसे मोटे टाइप में छपे आवरण पृष्ठ के नाम को भी ठीक लिखने और छापने में अपनी व्याकरण हीनता प्रकट करते हुए लज्जा अनुभव न करें वहां फिर म० राजाराम जी जैसे प्रकाशक 'धर्मनिष्ट' किंवा 'धर्म-नष्ट' हों तो इस में कौन आश्चर्य !

म० बिहारी लाल जी ने अपने 'खेदपत्र'—(हम उसे क्षमा पत्र

बताने का जघन्य पाप नहीं करेंगे)—में दिये वचन के अनुसार प्रथम संस्करण के आपत्तिजनक आदिम आठ पृष्ठों को निकाल कर उन के स्थान पर नए आठ पृष्ठ लगा दिये।

नवम पृष्ठ पर 'देव वाणी के प्रसाद से वंचित' वाक्य भी प्रत्येक प्रतिमें सावधानी से काट दिया गया है। जिस से यह सुस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि बिहारी लाल जी के शब्दोंमें मुकद्दमें में किसी ने यदि क्षमा ही मांगी है तो वह स्वयं म० बिहारी लाल जी ही हैं जो कि इस छोटे से ट्रैक्ट में से पूरा एक फर्मा निकालने और अमुक अंश को मिटाने के लिये कानूनन बाध्य हुए हैं।

पैनाला जहां का तहां !

'लबड़ धौं धौं'का प्रतिकार करने के लिये दयानन्दियों ने अनेक मिथ्या भाषण किये, अनेक अपशब्द छापे, और वापिस लिये, कोर्ट के दर्वाजे खट खटाए, खेद प्रकाशित किया और अन्त में तीन २ पुरुष पुङ्गवोंने मिलकर कथित द्वितीय संस्करण के नाम पर क्षमा याचना का मिथ्या दुष्प्रचार भी किया, परन्तु सब बुरे भले पापड़ बेलने पर भी 'पैनाला जहां का तहां' ही रहा अर्थात्—'लबड़ धौं धौं' लिखित मूर्तिपूजा साधक अकाट्य प्रमाण अखण्डनीय युक्तियों में से किसी एक का भी उत्तर दयानन्दी महाशय न दे सके। खासकर परिशिष्ट रूपेण छपे महावीर स्पष्टीकरण' लेख के उत्तर में तो आंय बांय सांय कुछ भी करते न बना। हम आनन्दकन्द भगवान् की कृपा से जनता की अत्यधिक मांग के कारण 'दयानन्दियों की लबड़ धौं धौं' का यह द्वितीय संस्करण यथा पूर्व मुद्रित कर रहे हैं।

——

स्थायी-चेलेंज !

कोई भी दयानन्दी जब चाहे शास्त्रार्थ करले !!

जिस पुरुष ने एक बार भी आर्य्यसमाज के पांचवें वेद 'सत्यार्थ-प्रकाश' को पढ़ा होगा वह इस बात से खूब परिचित होगा कि आर्य्यसमाज का जन्म देवी देवताओं और अवतारों की निन्दा करने, धर्म्माचार्य्यों की पगड़ियें उछालने, एवं कुतर्क के आश्रय से आस्तिकता का समूलोन्मूलन करके हिन्दुओं को नाम में—'आर्य्य' किन्तु काम में—'ईसाई' बनाने के लिये हुआ है। जिस समाज के प्रवर्तक ने महर्षि वेद-व्यास को 'कसाई',— भक्त प्रहलाद को 'मूर्ख',— श्री शठकोप स्वामी मुनिवाहन जी और श्री यामुनचार्य्य जी आदि श्री वैष्णवाचार्य्यों को 'कञ्जर' 'भङ्गी' और 'यवन',—पुष्टिमार्ग को 'कुष्टीमार्ग'.— गिरिपुरी आदि संन्यासियों को 'भोजनार्थी' एवं 'दम्भी',—गुरु नानक देवजी को 'पाखण्डी', हजरत ईसा को 'जङ्गली' और मुहम्मदसाहिब को 'व्यभिचारी'-लिखकर समस्त मतावलम्बियों के हृदयों को ठेस पहुँचाई हो उस पन्थ का अस्तित्व शान्ति-प्रिय धर्म्मप्रेमियों के लिये अवाञ्छनीय अभिशाप है, इसलिये आर्य्य समाज का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये हमारा उनको "स्थायी चेलेंज" है। हमारा दावा है कि 'मूर्तिपूजा' 'अवतार' 'मृतश्राद्ध' 'जन्म प्रधान वर्ण व्यवस्था' और 'पातिव्रत धर्म्म' वेदोक्त हैं, तथा दयानन्दकृत ग्रन्थ मिथ्या और कपोलकल्पित हैं एवं तत्प्रतिपादित समस्त 'संस्कार' 'गृहस्थधर्म्म' 'नियोग' 'विधवा-विवाह' आदि वेदविरुद्ध हैं। दयानन्दी भाई जब चाहें निम्नलिखित नियमानुसार शास्त्रार्थ कर सकते हैं।

शास्त्रार्थ के नियम

(१) शास्त्रार्थ संस्कृत में लेखबद्ध होगा और आवश्यकतानुसार जनता को उस लेख का हिन्दी अनुवाद सुना दिया जायगा।

(२) केवल वेद प्रमाण ही लिये जायेंगे।

(३) कोई भी संस्कृत यूनिवर्सिटी अथवा पक्षपात शून्य व्यक्ति निर्णायक मध्यस्थ रहेगा।

(४) अन्यान्य उपनियम देश काल परिस्थिति के अनुसार उभय-पक्ष की सम्मति से यथासमय निर्णय किये जायेंगे।

भवदीय--**माधवाचार्य्य शास्त्री**

धर्मधाम कमलानगर, देहली।

निवेदकः--

पं० रामचन्द्र जोशी, मन्त्री—मारवाड़ी ब्राह्मण पञ्चायत।
पं० हनुमानदत्त जोशी, मन्त्री--मारवाड़ी विद्वत्समिति।
मुरलीधर व्यास, मन्त्री--वैष्णवसंघ।
रामकुमार झुनझुनूवाला, मन्त्री--सनातनधर्म मण्डल।
रामरक्षपाल झुनझुनूवाला, मन्त्री—सनातनधर्मावलम्बीय अग्रवाल सभा।
दामोदर दास रूइया, मन्त्री—देवालय संरक्षण समिति।
हरिकृष्ण झाझड़िया, मन्त्री—मारवाड़ी युवक सम्मेलन।
कन्हैयालाल रांठी, मन्त्री--डांडू माहेश्वरी सेवा समिति।
पं रामचन्द्र मिश्र, मन्त्री—कलकत्ता पण्डित सम्मेलन।

—०:※:०—

श्रीगणेशाय नमः

दयानन्दियों की

लबड़ धों धों !

सत्य-व्रताक्षि-जलजारुण-कान्ति-कान्तो-,
दिव्यो भुजङ्गम-विहारि-मदापहारी ।
श्रौत-प्रमार्चन-विधानकृतावतारः,
श्रीमाधवो विजयते खलु वादमूर्तिः ॥

श्रीकृष्ण पक्षे—सत्यव्रता=सत्यभामा, तस्या अक्षिणी एव जलजे=कमले तत्कृते अरुणकान्तिः=सूर्य इव कान्तः=कमनीयः । दिव्यः=अमानुषः । भुजङ्गमेषु=सर्पेषु विहरति=क्रीड़तीति भुजङ्गमविहारी=कालीयाख्यः पुराणप्रसिद्धो नागराजः, तस्य मदापहारी=गर्वनाशकः । श्रौतप्रमा=वेदमर्यादा, तस्या अर्चन-विधानाय=पूजासम्पादनाय कृता [मत्स्याद्यो] अवतारा येन । वादः=पक्षप्रतिपक्षग्रहो मूर्तिः=स्वरूपं यस्य [वादः प्रवदतामहमिति भगवद्गीतावचनात्] तादृशः श्रिया सहितो माधवः श्रीकृष्णो निश्चयेन विजयते ।

शास्त्रार्थ पक्षे—सतीषु=पतिव्रतासु अव्रताः= [नियोगित्वात्] व्रतलोपपरायणाः [ये दयानन्दमतावलम्बिनः] तेषां अक्ष्णां=नेत्राणां जलैः=पराजयशोकजन्यरोदनाश्रुभिः,

नाता अरुणकान्तिः=शोणत्वप्रादुर्भावो यत्र स चासौ कान्तः = [सनातनधर्मिणां कृते] स्पृहणीयश्चेति तादृशः । दिव्यः = अपूर्वः । मुजङ्गमः = वेद-विरुद्ध-कुटिल-मार्ग-गामिनः, [एकादशपतित्वं कारात्] व्यभिचारिणो वा, तथाभूता विहारिणो = विहरणशीला ये सामाजिकास्तेषां दर्पहन्ता । श्रौतं = वेदोक्तं यत् प्रमार्चनं = प्रतिमापूजनं [कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमिति श्रुतेः] तस्य विधाने कृतः, अवतारो = अवतरणं यस्य । [सनातनधर्म्मावलम्बिनां] श्रियाः = शोभायाः, मायाः = लक्ष्म्याश्च धवः = [रक्षकत्वात्] पतिः । वादोमूर्तिर्विग्रहो यस्य तथाभूतः शास्त्रार्थो नितरां विजयते ।

माधवाचार्य्यपक्षे— सत्यव्रताख्यार्य्योपदेशकस्याश्रुजन्यशोणत्वसम्पादनात् [सनातनधर्म्मिणां] मनोहरः । दिव्यो = विजिगीषयोपलक्षितः । कुटिलहृदयस्य विहारीलालाख्यस्यार्य्योपदेशकस्य, अवलेपलोपकः । वेदोक्तप्रतिमापूजनविधानार्थं कृता अवतारा = भ्रमाब्धिसेतुभूताः 'पुराणदिग्दर्शन' 'धर्मदिग्दर्शन' प्रभृतयो ग्रन्था 'जूताकाण्ड' त्वेन प्रसिद्धाः शास्त्रार्थाश्च येन । 'वादमूर्ति' रित्युपाधिना विश्वविदितः श्रीमाधवो निश्चयेन विजयते ।

प्रस्तुत-पुस्तक

विगत ४-५ दिसम्बर सन् १९३७ ई० को लखनऊ में दो शास्त्रार्थ हुवे थे। प्रथम दिन तो केवल सात सात मिनट में ही समाज का पहलवान चारों खाने चित्त होगया और पुस्तकें बगल में दबाकर नौ दो ग्यारह होगया। दूसरे दिन ठोंक पीट कर नया पहलवान खड़ा किया गया, परन्तु उक्त महाशय ने भी मूर्ति पूजा को अवैदिक सिद्ध करने के बजाए भरी सभा में यह सिद्ध कर दिया कि "वेद में मूर्ति पूजा का निषेध नहीं है"। आचार्य जी ने शास्त्रार्थ के दर्म्यान उपर्युक्त शब्दों को महाशय जी के मुख से बार २ कहलवाया और अन्त में महाशयजी लिख कर देने को भी तैयार हो गये, परन्तु लखनवी समाजियों ने जब इस प्रकार अपने ही उपदेशक द्वारा दयानन्द के कल्पित पंथ की धज्जियें उड़ती देखीं तो जैसे तैसे हो हल्ला मचा कर—दयानन्द कृत ग्रन्थों पर शास्त्रार्थ किये बिना ही—मैदान छोड़ भाग कर जान बचाई। फल स्वरूप न केवल सनातन धर्मियों को ही बल्कि आर्य समाजियों को भी 'मूर्तिपूजा' की वैदिकता पर दृढ़ विश्वास हो गया। जनता ने स्थानीय 'आर्यनगर' मुहल्ला में जहां कि निन्यानवें प्रतिशत समाजी ही रहते हैं अवकाश न होने पर भी आचार्य जी का आग्रह पूर्वक एक स्पेशल व्याख्यान करवाया, सैकड़ों भूली भटकी आत्मायें फिर से सत्य सनातनधर्म की शरण में आगईं।

उधर दयानन्दी समाज के कैम्प में मातम छागया, वेद में 'मूर्ति पूजा' का निषेध न होने की घोषणा करने वाले महाशय विहारीलाल जी पर उग्र दल के कट्टर दयानन्दी वाग् बाण वृष्टि करने लगे, और इस काण्ड को समाज के लिये हैदराबाद दक्षिण के 'जूता काण्ड' से भी अधिक भयावह अनुभव करने लगे। अन्त में कटी नाक की मरहम पट्टी हो जाने की दुराशा से 'मूर्तिपूजा पर प्रामाणिक शास्त्रार्थ' नाम से एक तीस पेज का ट्रैक्ट छपाकर वितरण किया, जिसमें सत्य का गला घोट कर शास्त्रार्थ के वास्तविक स्वरूप को तोड़ मरोड़ कर अपने अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टा की गई! सनातन धर्म की ओर से उपस्थित किये गये बहुत से प्रमाण जान बूझकर छोड़ दिये गए! और आर्य समाज की तरफ से शास्त्रार्थ में जिन प्रमाणों और युक्तियों का जिक्र तक भी नहीं हुआ था ऐसा बहुत सा नया मैटर बढ़ा दिया गया!! गर्ज है कि आर्य समाज जो कुछ कर सकता था सत्य को बलाए ताक रख कर वह सब कुछ खूब किया गया, तथापि आकाश को थेली लगाना कहां तक सम्भव हो सकता था। यद्यपि आर्य समाज द्वारा मन माने रूप में प्रकाशित इस ट्रैक्ट को इसी विकृत रूप में साद्यन्त पढ़ जाने पर भी दयानन्दी समाज का खोखलापन और सनातन धर्म का महत्त्व भली भांति प्रगट हो जाता है इसलिये उक्त ट्रैक्ट के प्रतिवाद में लेखनी उठाने की हरगिज आवश्यकता नहीं थी तथापि शास्त्रार्थ में अनुपस्थित दूर पार की जनता में कदाचित् कुछ भ्रान्ति उत्पन्न न होने पाए एतदर्थ यह पुस्तक प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया है। आशा है पाठक हमारे इस प्रयत्न का स्वागत करेंगे।

हम हृदय से चाहते थे कि इस पुस्तक में वे ही शब्द छपें जो कि शास्त्रार्थ के दरम्यान उभय पक्ष की ओर से कहे गए थे परन्तु ऐसा करने पर आर्य समाज के ट्रैक्ट 'प्रामाणिक शास्त्रार्थ' की वे सब बातें छूट जातीं जो कि शास्त्रार्थ में नहीं हुई थीं किन्तु अब उन्होंने अपनी ओर से नये सिरे से मिला रक्खी हैं। साथ ही हमारे उत्तर भी असङ्गत से जंचते, क्योंकि शास्त्रार्थ में समाज ने जो बातें फुहड़पन से कहीं थीं अब वे ही बातें खूब नाप तोल कर अपनी समझ में अकट्य सी बनाकर लिखने का प्रयत्न किया गया है ऐसी दशा में हमें भी अगत्या उन सब बातों का तादृश उत्तर देने के लिये बाध्य होना पड़ा है। इस तरह यह शास्त्रार्थ पुस्तक न केवल तात्कालिक उत्तर प्रत्युत्तरों की सीमा तक ही सीमित रहा है अपितु आर्य समाज मूर्ति पूजा के विरोध में अधिक से अधिक जो कुछ भी कह सकता है उसका सर्वाङ्ग पूर्ण उत्तर बन गया है। पाठक हमारी विवशता को ध्यान में रखते हुए इस 'गतानुगतिकता' के लिये क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

आरम्भिक तैयारी

श्री सनातन धर्म सभा (हसन गंज पार) लखनऊ का वार्षिकोत्सव सदा की भांति सम्पन्न होने जारहा था, ता० २-५ दिसम्बर सन् १९३७ ई० अधिवेशन के लिये नियत हो चुकी थीं, विज्ञापन में अन्यान्य प्रौढ़ विद्वानों के अतिरिक्त शास्त्रार्थ महारथी पं० माधवाचार्य जी शास्त्री के पहुंचने का भी उल्लेख था, साथ ही स्थानीय आर्य समाज की उछल कूद के कारण

तथा कुछ दिन पूर्व ही सम्पन्न हुवे समाज के जल्से पर सनातनधर्म के प्रतिकूल काफी से ज्यादह विषवमन हो चुकने के कारण सभा संचालकों ने ४ और ५ दिसम्बर शास्त्रार्थ के लिये नियत कर रक्खी थीं। पत्र व्यवहार द्वारा यह निश्चित हो चुका था कि ४ दिसम्बर को आर्य्य-समाज मूर्ति पूजा, अवतार, श्राद्ध, वर्ण व्यवस्था आदि किसी भी यथेच्छ विषय पर प्रश्न कर सकता है, सनातन धर्म समाधान करने को तैयार है। इसी प्रकार पांच दिसम्बर को सनातनधर्म की तरफ से 'दयानन्द-कृत ग्रन्थों की वैदिकता पर' प्रश्न उपस्थित किये जाने पर समाज को उत्तर देना होगा। पहिले तो अपनी आदत के अनुसार दयानन्दी भाइयों ने शास्त्रार्थ से बचने के लिये नियमों की आड़ में काफी हाथ पांव मारे और पद २ पर अनावश्यक अड़ङ्गे लगाते हुए मैदान छोड़कर भाग जाने का असफल प्रयत्न किया परन्तु जब आचार्य जी के परामर्श से सभा सञ्चालकों ने सब नियम समाज की रुचि पर ही छोड़ दिये और उनको किसी भांति सामने आने को ललकारा तो उन्हें विवश होकर तैयार होना पड़ा। अस्तु समाज के आग्रहानुसार जो नियम निश्चय हो पाए इनका संक्षिप्त सार इस प्रकार है।

(१) शास्त्रार्थ प्रथम दिन 'मूर्ति पूजा की वैदिकता' पर और दूसरे दिन 'दयानन्द कृत ग्रन्थों की वैदिकता' पर संस्कृत में होगा, जनता को उसका भाषानुवाद सुना दिया जाएगा। किसी भी पक्ष से दूसरा पक्ष वक्ता के बोले हुए प्रमाण वा वक्तव्यांश को आवश्यकतानुसार लिखवा भी सकेगा। पहली टर्न २०-२० मिनट और फिर १०-१० मिनट क्रमशः दोनों वक्ता बोलेंगे इत्यादि।

पहिला शास्त्रार्थ

चार दिसम्बर सन् १९३७ को मध्याह्नोत्तर २ बजे पं० दयाप्रसाद जी शुक्ल बी० ए० एल० एल० बी० के प्राधान्य में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ, ठीक समय पर उक्त प्रधान जी ने आर्य समाज के शास्त्रार्थी महाशय सत्यव्रत शास्त्री को मूर्ति पूजा के अवैदिकत्व में अपना पूर्व पक्ष स्थापित करने के लिये आज्ञा की, परन्तु वे अन्य समाजियों से आपस में कुछ सलाह मशवरा करने लगे (सम्भवतः वक्त काटने का यह उपक्रम था) इस प्रकार इस कानाफूंसी में ही तेरह मिनट गुजर गए, सब सभा सन्नाटे में थी, सभापति जी ने पुनः ध्यान दिलाया कि आपका टाइम व्यर्थ जा रहा है केवल सात मिनट बाकी हैं। तब महाशय जी खड़े हुए और एक पर्चे पर लिखी हुई रबड़ छन्द की निम्नाङ्कित तुकबन्दी पढ़ने लगे—

अद्य सभायामीश्वरस्य कृपया,
लक्ष्मणपुरेऽहं समागतोऽस्मि।
भविष्यति चारु हि शास्त्रार्थो,
नहि मूर्तिपूजा लिखिता च वेदे ॥१॥
लक्ष्मणपुरस्य-जनता मम वाक्यं,
शृणोतु सत्यं कथयामि किंचित्।

आर्य्यसमाजस्य सिद्धान्तोऽस्ति भूतले,।
जड़ा भवन्ति जड़पूजनेन ॥२॥
विलोक्यतां यजुर्वेदमध्ये,
अकायमव्रणं लिखितं च स्पष्टम्।

[उपर्युक्त साढ़े तीन पद्यों को पुनः पुनः भूयो भूयः आवेष्टित करते हुए सात मिनट का टाइम पास कर दिया और 'इति पद्यं समाप्तम्' होते ही कविराज जी धम से बैठ गए। सभा में बहुत से संस्कृतज्ञ विद्वान् और दर्जनों मध्यमा, शास्त्री आदि परीक्षादित्सु छात्र भी उपस्थित थे, जो महाशय जी की कविता किंवा कपिता के रस (?) में विभोर होकर लोट पोट हुए जारहे थे! कोई पदयोजना पर मस्त था! कोई छन्द सांकर्य्य क्या-घोल मथोल पर लट्टू था! इधर आकाश में खड़ी हुई वैय्यट, मम्मट, लोल्लट, उद्भट, सायण, मायण आदि की आत्माय अपने फूलों को बजाए हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड में बखेरने के म० सत्यव्रत जी पर ढेर कर रही थीं तो उधर पिङ्गल प्रणेता महर्षि और भिखारी दास भानु कवि आदि आधुनिक छन्दो वेत्ता अभिनव छन्द निर्माण कारिणी सत्यव्रत जी की हिमालय सन्निभा प्रखर बुद्धि पर बलिहार जारहे थे !!!]

पं० माधवाचार्य जी (पहलीबार)

परिषत्पद्यते ! पारिषद्याश्च !!

नैतद् अविदितचरं तावत् तत्रभवतां भवतां यद्धि नाम अद्य 'मूर्तिपूजा वेदिकी न वेति' विषयमवलम्ब्य शास्त्रार्थविचारः सुनिश्चित आसीत्। तत्र दयानन्दमतावलम्बिभिर्वेदप्रमाणप्रदर्शनपुरस्सरं सयौक्तिकं च मूर्तिपूजाया वेदविरुद्धत्व-

मुट्टङ्कनीयमस्माभिश्च तत् सच्छास्त्रप्रमाणोद्धरणपूर्वकं समाधेयम् इत्येष आसीच्छास्त्रार्थविनिर्णयः परं आर्यसमाज-शास्त्रार्थवीरैरेषा न तथा कृतम्, अपितु निजाद्भुतकवित्व-प्रदर्शनमात्रेणैव समयो यापितः। अस्य महाशयस्य कवित्व-प्रौढ़िविषये तु मया न किमपि वक्तुं युज्यते। सुरभारतीप्राङ्गण-रिङ्गणविहारिणो भवन्त एव विदांकुर्वन्तु किन्तु स्वपक्ष-स्थापनमन्तरा प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानग्रस्तायं महानुभावः पराजित इति सम्यग् विभावयन्तु सहृदयाः।

यद्यपि न्यायशास्त्रनिर्णीतवादरादृद्धान्तानुसारं तु समाप्त-प्रायोऽयं शास्त्रार्थः, तथापि साङ्गिडमघोषं शास्त्रार्थफल-प्रकटनपक्षस्य मध्यस्थस्य अभावात् प्रतिवादिमन्तव्यानुकूल-मनुमितपूर्वपक्षमाश्रित्य 'प्रतीकोपासनाया वैदिकत्वं' प्रदर्श्यते। तद्यथा—

(क) त्र्यम्बकं यजामहे····· (यजु० ३। ६०)

(ख) मुखायते पशुपते!····· (अथर्व० ११। २। ५-६)

इत्यादिभिर्वेदमन्त्रैर्मुखादिसर्वाङ्गविशिष्टस्य भगवतो यजनं-पूजनं विधीयते। एवमेव—

(ग) अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति (शतपथ)

(घ) प्रतिकृतिं कृत्वा·····अर्चयेत् (बोधायन)

इत्यादिकैः प्रमाणैश्च प्रतिमानिर्माणं तदुपासनं च सुस्पष्टं प्रतिपाद्यते।

श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिग्रन्थेषु अन्यान्यपि बहूनि प्रमाणानि सन्ति समयाभावान्न साम्प्रतं तानि स्थाप्यन्ते।

यश्च यजुर्वेदीयमन्त्रांशमुद्धृत्य 'अकायमव्रणम्' इत्यादि शब्दैः प्रतिमापूजननिषेधाभासः कविपुङ्गवैः प्रादर्शि तदपि-

पल्लवग्राहिपाण्डित्यविजृम्भितमेव । यतो हि मन्त्रेऽस्मिन् 'अकाय' शब्दस्य न शरीरराहित्ये तात्पर्य्यम् । तथा सति अव्रणादिविशेषणानां वैयर्थ्यापत्तिः स्यात्, यथा 'अपुत्रोऽयं देवदत्त' इति वाक्ये-'कृष्णवर्णपुत्ररहितः' 'शुक्लवर्णपुत्ररहित' इति विशेषणान्तरं दूरादपास्तम् । अपितु कर्म्मफलजन्यव्रणादिविविधविकाराऽपरिमृष्टेऽस्मदादिविलक्षणे दिव्ये भगवद्विग्रहेऽध्यवसानम् । 'काय' शब्दस्य-'चीयते पापपुण्यादिकमनेनेति' व्युत्पत्तिलभ्येऽर्थेऽवताराणां च तादृग् देहाभावेऽर्थापत्त्या-वैलक्षण्येऽर्थसामञ्जस्यम्

महानुभावाः ! इत्थं प्रतिवादिशङ्कानिरासपुरस्सरं वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणपरिपुष्टं प्रतीकोपासनं सर्वैरपि करणीयमिति सिद्धम् ।

[दश मिनट में यह वक्तव्य समाप्त हुआ और दश मिनट में इसका हिन्दी अनुवाद सर्वसाधारण को सुना दिया गया। पश्चात् जनता के विशेष आग्रह से सभापति जी द्वारा यह मांग पेश की गई कि म० सत्यव्रत जी स्वरचित पद्यों को जो कि अभी २ आपने उच्चारण किये थे अपने हाथ से लिखकर हस्ताक्षर पूर्वक हमें प्रदान करें। यदि वे भी हमारे वक्तव्य के किसी अंश को लिखवाना चाहें तो खुशी से लिखवा सकते हैं। तथा भविष्य में आपने वक्तव्य का हिन्दी अनुवाद भी अवश्य ही सुनायें, जिससे उभय पक्ष के पण्डितों की संस्कृत योग्यता के साथ साथ शास्त्रार्थ का तात्पर्य भी सर्व साधारण को विदित हो सके।

यद्यपि जनता की ये दोनों मांगें सर्वथा न्याय्य थीं किसी भी वक्ता के वक्तव्यांश को इच्छानुसार लिखवा सकना पहिले

से सुनिश्चित हो चुका था, हम चाहते थे कि दयानन्दी समाज के इस प्रखर कवि की यह विलक्षण कविता सर्व साधारण तक पहुंचाई जाय। यद्यपि हमने क्या—अन्य भी बहुत से कौतुकी साक्षरों ने—बड़ी सावधानी और दिलचस्पी के साथ इसे नोट किया था परन्तु लखनऊ से बाहिर के लोगों को इस के वास्तविक रूप पर कुछ सन्देहोत्पादन करने का अवसर न आने पाए एतदर्थ हम महाशय जी के ही हाथ से उनके हस्ताक्षर सहित लिखित विश्वस्त प्रति का 'ब्लाक' बनवाकर उसे ज्यों का त्यों ही छपाने की अभिलाषा रखते थे। महाशय लोग हमारी इस भावना को ताड़ गये, चाहे वे इस कविता के शुद्धाशुद्ध होने का इतना परिज्ञान नहीं रखते थे तथापि उन्हें यह पूरा अनुमान होगया था कि है कुछ 'दाल में काला' अवश्य ! इसलिये 'नहीं लिखेंगे नहीं लिखेंगे' होहल्ला मचाने लगे। साथ ही म० सत्यव्रत जी का मसाला भी समाप्त हो चुका था, अतः अब आगे की टर्नों में तीन घण्टे तक क्या बोलें ? यह भी एक कठिन समस्या थी, संभवतः आज प्रथमवार ही आपको अन्य किसी आर्योपदेशक के न होने के कारण जबर्दस्ती शास्त्रार्थी बनाया गया था। इसका आभास आपकी इस गर्वोक्ति से ही प्रकट हो गया था कि 'हम ३५) रोज फीस लेने वाले वैद्य हैं'। सो शास्त्रार्थ में उक्त गदहा जी कहां तक कृतकार्य हो सकते थे। भाषानुवाद सुनाने से आप इसलिये भयभीत होते थे कि श्रीमान् जी पद २ पर हिचकियें लेते थे और हकलाते थे सो संस्कृत पद्यों के उच्चारण के समय में तो ये दोनों दोष सर्व साधारण की दृष्टि में संस्कृत उच्चारण शैली की विलक्षणता की आड़ में किसी तरह छुप गऐ,

परन्तु हिन्दी भाषा बोलने पर बच्चों के हंसने का पूरा खतरा था इत्यादि अनेक निर्बलताओं के कारण समाजी लोग गुल गपाड़ा मचाने लगे और जिस महाशय के अहाते में शास्त्रार्थ हो रहा था उससे मिलकर शास्त्रार्थ को मना करवा दिया। इस प्रकार 'जान बची और लाखों पाए' को कार्यान्वित करते हुवे नौ दो ग्यारह होगए। महाशयों के पीठ दिखाते ही वायु मण्डल शान्त होगया और जनता के अनुरोध करने पर उसी वेदी पर लग भग दो घण्टे तक पूज्य आचार्य जी का ओजस्वी भाषण हुआ। उधर श्री सत्यव्रत जी इतने लज्जित हुए कि ५ दिसम्बर को होने वाले शास्त्रार्थ से पहिले ही रातों रात लखनऊ से अन्तर्धान होगये।

डबल चेलेंज

'प्रामाणिक शास्त्रार्थ' ट्रैक्ट के लेखक महाशय बिहारी लाल जो आर्योपदेशक सत्यव्रत जी के शास्त्रार्थ में उपस्थित नहीं थे, कदाचित् वे उपस्थित होते तो शायद अपने ट्रैक्ट में सफेद झूठ के अतिरिक्त श्री आचार्य जी की विश्व विदित योग्यता पर व्यक्तिगत आक्रमण न करते! अस्तु अभी कुछ बना बिगड़ा नहीं है। आचार्य जी तैयार हैं और आप अपने अखाड़े के पट्ठे म० सत्यव्रत जी को भी तैय्यार कीजिये संस्कृत भाषण, लेखन, और कविता—चाहे किसी भी कला में प्रतियोगिता हो जाए! इसके लिए हम चेलेंज करते हैं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि—'घी ढुलके बरतन परमाण' अर्थात् यदि बर्तन ढुलक कर घी बिखर जाए तो उसका ठीक वजन उस बर्तन को पुनः घी से भर कर जाना जा सकता है। ठीक

इसी प्रकार आचार्य जी और सत्यव्रत जी की विद्यमानता में यह अब भी परीक्षण हो सकता है कि म० सत्यव्रत जी 'स्वरचित संस्कृत पद्यों' की कितनी योग्यता रखते हैं और बिहारी जी के अतिरिक्त अन्य कोई सादर भी उनकी कविता पर (ललित) की छाप लगाने को तैयार है या नहीं ? साथ ही 'माधव आप सदा के कोरे हैं' या 'बिहारी कुटिल हृदय के कोरे हैं'—यह भी भली भांति विदित हो जाएगा ! देववाणी को चेतनाधिष्ठित देवी मानने वाले सनातनधर्मी मां भारती के प्रसाद से कैसे वञ्चित रह सकते हैं ! वञ्चित रहेंगे वे अनार्षनास्तिक जो कि देववाणी को कोरी लैंग्वेज= (Language)=जड़ शब्दों के तारतम्य का परिणाम मानते हुए भी चेतन के गुण 'प्रसाद'=प्रसन्नता को उससे प्राप्त करने की अपनी जड़ता पर पश्चात्ताप नहीं करते !!

जिस समाज के प्रवर्तक को कविता का नमूना 'संस्कार विधि' में 'दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः' इत्यादि श्लोक के 'हीशरणा' 'स्त्यनेनायं ग्रन्थो' और 'बोधव्यमनघा' आदि प्रयोगों से सुस्पष्ट है और देववाणी के प्रसाद (?) की पराकाष्ठा 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम समुल्लास में ही 'परमात्मा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुवे–'परश्चासौ आत्मा' ऐसे विग्रह से व्यक्त है, जो कि छब्बीस संस्करण छपने पर भी समाज के किसी पुरुष-पुङ्गव को विदित न हो सकी और अभी तक ज्यों की त्यों अशुद्ध छपती आरही हैं। जिस समाज की विश्वविद्यालय कही जाने वाली सर्व श्रेष्ठ शिक्षासंस्था गुरुकुल कांगड़ी के प्रिन्सिपल साहिब बकौल-महाशय विष्णुमित्र शर्मा बी० ए० भूतपूर्व प्रोफेसर उपर्युक्त गुरुकुल–'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या' इस उपनिषद्-वाक्य की

व्याख्या करते हुए 'त्वग्रा' नाम वाली बुद्धि द्वारा वह ईश्वर दीखता है ऐसा उचरते हैं और 'अभिज्ञ' शब्द को नञ् समा-सान्वित समझ कर मूर्ख को 'भिज्ञ' बोलते हैं उस 'देवानांप्रिय' समाज के उद्दण्ड देवता सत्यव्रत जी और विहारी-आदि कवि वाल्मीकि को और भगवान् व्यास को चुनौति देने की अक्षम्य धृष्टता करने को उद्यत हैं न्यक्कृतः खलु खद्योतेन सहस्ररश्मिः । अन्धेन च सहस्रदृक् । शायद नीचे लिखी पंक्तियें ऐसे ही पुण्यजनों को लक्ष्य करके लिखी गई हैं:—

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता,
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा ।
भवेदद्य श्वो वा प्रकृतिकुटिले पापनि कलौ,
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥१॥

[प्रथम शास्त्रार्थ में बुरी तरह पराजित होकर म० सत्यव्रत के चले जाने पर स्थानीय दयानन्दी समाज का पांच दिसम्बर को होने वाले दूसरे शास्त्रार्थ के लिये उपदेशक ढूंढने में बड़ी दौड़ धूप करनी पड़ी। यूं तो आर्य मुसाफिर नामधारी कई एक मट्टी के शेर शहर में विद्यमान थे परन्तु आचार्य जी के सामने खड़ा होना कोई खाला जी का बाड़ा थोड़े ही था, अन्त में बड़ी परेशानी के बाद उम्मानी से एक महाशय को

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' बनाकर यथा तथा ले आए। महाशय लोग प्राय. नम्बर एक जमानेसाज होते हैं, घर में ठाकुर पूजन करते हैं, श्राद्ध के मालपूए उड़ाते हैं, मस्तक पर चन्दन पोतते हैं भगवान कृष्ण के गुणानुवाद का कीर्तन करते हुए आनन्दोद्रेक का अभिनय भी करते हैं और सनातन धर्म के उत्सवों पर खूब धड़ल्ले से व्याख्यान भी फटकारते हैं, परन्तु वक्तनफ़वक्तन आर्यसमाज की ओर से वकालत भी कर डालते हैं, स्वतन्त्र कहे जाने वाले ये आर्योपदेशक वस्तुतः 'शुक्लाम्बरधरं विष्णुम्' के अनन्य उपासक होते हैं। 'रामाय स्वस्ति रावणाय स्वस्ति' इनका बीज मन्त्र होता है, बड़े समदर्शी बनते हैं इसलिये किसी सम्प्रदाय विशेष के पचडे में न पड़कर जहां लोगों को अपने इष्टदेव 'कुन्द इन्दु समदेह' की पूर्ण प्राप्ति हो जाती है वहीं प्रयत्नपूर्वक पहुँचते हैं ? 'करेंसी आफिस' के सांचे में ढली इष्टदेव की पत्रमयी प्रतिमायें आप लोगों को बहुत प्रिय होती हैं ! शास्त्रार्थ में भी ये सज्जन प्रायः ऐसी द्व्यर्थक वाक्यावलि बोलने का प्रयत्न करते हैं जिससे कि उभय पक्ष को अपने २ मतलब का अर्थ निकालने की काफी गुंजाइश रहे, उक्त महाशय भी इसका अपवाद नहीं थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण म० विहारीलाल जी का छपाया हुआ 'प्रामाणिक शास्त्रार्थ' नामक ट्रैक्ट हमारे सामने है, जिसमें इसी आशय से—आरम्भ में मङ्गलाचरण रूप 'ॐ' वा 'श्रीः' दोनों को अर्धचन्द्र दे डाला है जिससे कि आप किसी भी पन्थ के विशेषाग्रही न जान जा सक। इसी प्रकार अन्त में भी अपने आपको 'आर्यसमाज का सेवक' न लिख कर जनता का सेवक—विहारीलाल और 'आर्योपदेशक' न लिख कर 'उपदेशक' मात्र लिखा है कि जिससे

आप आर्य समाज और सनातन धर्म दोनों किश्तियों में एक २ पांव रख सकें]

यद्यपि नियमानुसार आज दयानन्द-कृत ग्रन्थों की वैदिकता पर शास्त्रार्थ होना चाहिये था, परन्तु समाज ने फिर अड़ंगे लगाकर भाग जाने का प्रयत्न किया और कल जो मूर्तिपूजा के शास्त्रार्थ में करारी हार खा चुके थे आज पुनः इसी विषय पर किसी तरह लीपापोती हो जाने की दुराशा से शास्त्रार्थ होने का हठ ठान बैठे। अन्त में उनका यह अनुचित हठ भी सनातनधर्मियों ने स्वीकार कर लिया कि आज फिर पहले 'मूर्तिपूजा' ही पर शास्त्रार्थ हो और पश्चात् 'दयानन्द कृत ग्रन्थों' पर किया जाए। तदनुसार समाज की तरफ से संस्कृत में शास्त्रार्थ होने का नियम भंग करके हिन्दी भाषा में ही इस प्रकार पूर्व पक्ष स्थापन किया गया।

म० विहारीलाल

मूर्तिपूजा सर्वथा आधुनिक है—यह बात भारतीय इतिहास मर्मज्ञ विद्वान राय बहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित 'महाभारतमीमांसा' से—और हिन्दी साहित्य के महान् विद्वान् और महाकवि श्री पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय कृत 'कबीरवचनावलि' से स्पष्ट है प्रमाणार्थ मैं उक्त दोनों ग्रन्थों से पूरे के पूरे उद्धरण पढ़कर सर्व साधारण को सुनाता हूं [पुस्तक बांच २ कर सुनाने लगे]

महाभारत मीमांसा का अवतरण—

१—यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन में कहीं मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिर की

आह्निक क्रियाओं का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है तथापि उसमें किसी देवता की धातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति के पूजे जाने का वर्णन नहीं है। उस समय यदि लोगों की आह्निक क्रिया में देवताओं की पूजा का समावेश हुआ रहता, तो उस विषय का उल्लेख इस वर्णन में अवश्य आया होता। इससे निश्चय पूर्वक अनुमान होता है कि भारतीय युद्धकाल में और महाभारत काल पर्यन्त, आर्यों के आह्निक धर्म में किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट न हुई थी। किसी घर में देवता की मूर्ति रखकर उसकी पूजा शुरू न हुई थी; भिन्न २ गृह्य सूत्रों में भी देवताओं की पूजा की विधि नहीं बतलाई गई है। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवपूजा की आह्निक विधि महाभारत काल के पश्चात् अनेक वर्षों में उत्पन्न हुई है। (म० भा० मी० पृ० ४४८)

कबीर वचनावलि का अवतरण—

२—वैदिक काल से उपनिषद् और दार्शनिक काल पर्यन्त आर्य धर्म में कहीं भी अवतारवाद और मूर्तिपूजा का पता नहीं चलता, पौराणिक काल में ही इन दोनों बातों की नींव पड़ी है।

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि मूर्तिपूजा नवीन है आशा है पूज्यपाद आचार्य जी इसका उचित उत्तर देने की कृपा करेंगे।

पं० माधवाचार्य जी

महानुभाव ! आपको विदित है कि शास्त्रार्थ का विषय 'मूर्तिपजा' है जिसमें आर्य समाज को वेद प्रमाणों द्वारा यह

सिद्ध करना चाहिये था कि ईश्वर की मूर्ति नहीं बन सकती अथवा वेद में मूर्तिपूजा न करने की आज्ञा दी गई है, परन्तु मेरे प्रतिपक्षी महाशय ने वेदादि किसी भी ग्रन्थ के प्रमाणों से अपने पक्ष की स्थापना नहीं की है, ऐसी दशा में 'प्रतिज्ञाहानि' निग्रह स्थान में फंस जाने के कारण न्यायतः आप पराजित हो चुके हैं। आज के वाद का यह विषय हरगिज़ नहीं है कि विदेशी रिसर्चस्कालरों की अधूरी एवं भ्रममूलक आलोचनाओं में तथा 'अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः' के न्यायानुसार विदेशियों की 'ट्रू कापी' करने वाले भारतीयों की राय में मूर्तिपूजा अनादिसिद्ध एवं वैदिक है या नहीं? बल्कि आज का विषय तो यह है कि सनातनधर्म और आर्य समाज दोनों दलों के लिये समान रूप से आदरणीय एवं स्वतः प्रमाण वेद ग्रन्थों में मूर्तिपूजा का विधान है या नहीं? सो महाशय जी ने अपने वक्तव्य में मूर्तिपूजा के विरोध में कोई प्रमाण उपस्थित किया ही नहीं और मैं अभी से भविष्यवाणी कर देता हूँ कि भविष्य में आप अन्त तक ऐसा प्रमाण पेश न कर सकेंगे, क्योंकि वास्तव में वेद में कहीं भी मूर्तिपूजा का निषेध नहीं है बल्कि सैकड़ों मन्त्रों में स्पष्ट रूप से विधान है—ऐसी दशा में ये कर भी क्या सकते हैं!

मैं मूर्तिपूजा के मण्डन में वेदों और सच्छास्त्रों के अकाट्य प्रमाण उपस्थित करने से पूर्व महाशय जी की ओर से उपस्थित किये गए उन उद्धरणों पर विचार करना आवश्यक समझता हूं जो कि आपने अपने पक्ष की पुष्टि में वेद मन्त्रों से अधिक वजनदार समझ कर पेश किये हैं।

यदि आज कल के समालोचकों की एकांगी अलोचनाओं को आस्तिक लोग प्रमाण मानने लगे तो फिर आर्य संस्कृति का सर्वनाश ही हो जाएगा क्योंकि प्रायः सभी विदेशी और उनके अनुगामी भारतीय इतिहासकार तो अपौरुषेय अनादि वेदों को भी कुछ सदियों के बने और विभिन्न आर्य पुरुषाओं की कृति मानते हैं*। कई समालोचक चक्रचञ्चु जन्तु तो पवित्र सोमरस को मादक शराब और वेद मन्त्रों को सोमान्मत्त चरवाहों के अटपटे गीत बताते हैं। सर्व साधारण की कौन कहे-लोकमान्य तिलक सरीखे आस्तिक उद्भट विद्वान् भी विदेशी दृष्टिकोण के विषाक्त प्रभाव से अपने प्रसिद्ध 'ओरियन' ग्रन्थ में वेदों का निर्माण काल दश हजार वर्ष मात्र बताकर रह गए। ऐसी दशा में आधुनिक ऐतिहासिकों की राय आस्तिकों के निकट कुछ भी मूल्य नहीं रखती। फिर चाहे 'श्री चिन्तामणि' और 'हरि औध' जी हों चाहे अन्य कोई!

यही आपके आक्षेपों का समाधान है। अब मैं वेदादि ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध करता हूँ नोट कीजिये। यजुर्वेद (३। ६०) में लिखा है कि—

(क) त्र्यम्बकं यजामहे।

अर्थात्—हम तीन नेत्र वाले शङ्कर भगवान् का पूजन करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद (११।२।५-६) में तो ईश्वर की सर्वाङ्ग पूर्ण मूर्ति का वर्णन आता है और उसके विभिन्न अङ्गों को पृथक् २ नमस्कार करना अङ्कित है यथा—

---

* हिन्दू आर्यों ने वे सूक्त बनाए हैं जिन्हें ऋग्वेद कहते हैं (आर० सी० दत्त) वेदों की रचना अपान्तरतमा ऋषि ने की है, (महाभारत मीमांसा पृ० ४३४)

मुखाय ते पशुपते । यानि चक्षूंषि ते भव !
त्वचे रूपाय सन्दृशे प्रतीचीनाय ते नमः ।
अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वायास्याय ते
दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ।

अर्थात्—हे समानद्रष्टा ज्ञानि मनुष्यों के पालक परमात्मन् ! आपके चेहरे को और हे सत्तावान् परमेश्वर ! आपके सूर्य चन्द्र अग्नि रूप तीनों नेत्रों को—एवं त्वचा, दृष्टि, उदर, जिह्वा, मुख, दान्त और नासिका आदि अनादिसिद्ध अङ्गों को नमस्कार हो ।

यजुर्वेद शतपथ शाखा (१४।२।६।–) में तो अतिस्पष्ट शब्दों में यज्ञाङ्गभूत सर्वाङ्गपूर्ण 'महावीर' की मृन्मय मूर्तियों का विधिवत् बनाना और पूजना दर्ज है–यथा—

अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति तन्मृदश्चापां च
महावीराः कृता भवन्ति ।

अर्थात्—[अमुक मन्त्र बोलकर बांबी की] मिट्टी का पिंडा ग्रहण करे । उस मिट्टी और [अभिमंत्रित] जलों द्वारा तीन महावीर [नाम वाली प्रतिमाएं] बनाए । प्रसिद्ध बौधायन सूत्र (परिचर्या प्रकरण १) में भी लेप्या और लेख्या मूर्ति का अक्षतादि सामग्री द्वारा पूजना लिखा है यथा—

स्नात्वा शुचौ देशे गोमयेनोपलिप्य प्रतिकृतिं
कृत्वा अक्षतपुष्पैर्यथालाभमर्चयेत् ।

अर्थात—स्नान करके पवित्र भूमि को गोमय से लीप कर मूर्ति मांडनी चाहिये फिर उसका अक्षत पुष्पादि यथालब्ध सामग्री द्वारा पूजन करना चाहिये ।

वेद में 'मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि सहस्रस्य प्रतिमा असि' इत्यादि अनेकों प्रमाण विद्यमान हैं जो समयाभावात् अनावश्यक समझ कर नहीं दिये जारहे हैं।

मनुस्मृति (२ । १७६) में 'देवताभ्यर्चनं चैव' इत्यादि की व्याख्या करते हुवे कुल्लूक भट्टादि सभी टीकाकारों ने 'प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनम्' ऐसा लिखा है।

वाल्मीकीय रामायण (उत्तर काण्ड ३१ । ४२-४३) में स्पष्ट लिखा है कि--

यत्र यत्र स याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ॥
बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्चयामास गन्धाढ्यैः पुष्पैश्चागुरुगन्धिभिः ॥

अर्थात्—राक्षसराज रावण (दिग्विजय यात्रा के समय) जहां २ जाता था वहां वहां साथ में सुवर्ण निर्मित शिवलिङ्ग लेजाया करता था, बालू रेत की बेदी बनाकर उस पर उस सुवर्ण लिङ्ग को स्थापित करके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदि से पूजता था।

कदाचित् आप इसे राक्षस का आचरण बताकर हेय एवं अननुकरणीय सिद्ध करने का साहस करें तो भगवान् रामचन्द्र जी द्वारा प्रसिद्ध रामेश्वर लिङ्ग का स्थापन भी रामायण (युद्ध-काण्ड १२५ । २०) में लिखा है यथा—

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः ।

अर्थात्—हे सीते ! यह वह स्थान है जहां कि व्यापक भगवान् श्री महादेव जी ने हमें वरदान दिया था।

इसलिये वेद शास्त्र पुराणेतिहास आदि ग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध है कि मूर्तिपूजा वेदानुकूल और आस्तिक वेदनुयायी जनता द्वारा सदा आचरणीय है।

म० विहारीलाल जी

आपके रामायण के प्रमाण मान्य नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसे २ नवीन श्लोक तो साम्प्रदायिक काल में मिलाए गए हैं। बौधायन सूत्र महाभारत काल के बाद का है, यह 'वैदिक सम्पत्ति' और 'महाभारत मीमांसा' में लिखा है। मनुस्मृति के 'देवतार्चन' शब्द से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती।

विद्वान् ज्ञानी चेतन देवों का अर्चन अर्थात् सत्कार करना तथा यज्ञ करना अन्यादि जड़ देवों के ठीक २ विज्ञान को जान कर उनसे काम लेना चाहिये। जैसा वैज्ञानिक लोग ले रहे हैं। यही है "देवतार्चन" आपके दिये 'मा असि' आदि वेद मन्त्रों में तो मूर्तिपूजा का विनियोग तक नहीं, किन्तु यज्ञ में इसका विनियोग है देखो महीधर भाष्य—चिष्टन्नग्निं प्रोक्षति (का० १७।१२।२७) कात्यायन सूत्र का प्रमाण है इस मन्त्र से अग्निप्रोक्षण करे।

हे आग! तू हजार ईंटों का प्रमाण है। यहां यज्ञ का अग्नि का वर्णन है मूर्तिपूजा कहां है?

"मुखाय ते" और "त्र्यम्बकम्" से जो आपने ईश्वर को साकार सिद्ध करने का निष्फल प्रयत्न किया है यह आपको निग्रह स्थान में ले जारहा है। अपने पक्ष का साधक मूर्तिपूजा विधायक प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिये। यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक साकार की मूर्ति बनाकर पूजी जाए। इस समय

मेरा प्रश्न ईश्वर की साकारता निराकारता विषयक नहीं है और नाहीं ईश्वर की मूर्ति बनाने की शक्यता पर। इस समय तो साध्य यह है कि "वर्तमान वैष्णव शैव शाक्तादि सनातनी सम्प्रदायों द्वारा की जाने वाली मूर्तिपूजा वेदादि प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध है सनातन है"। और नाहीं इन वेद मन्त्रों से ईश्वर साकार सिद्ध होता है।

त्र्यम्बक का अर्थ आप तीन नेत्र वाला करके ईश्वर को साकार सिद्ध करने का विफल प्रयत्न कर रहे हैं। यह आलङ्कारिक कल्पना है। ईश्वर के वास्तविक नेत्र, दांत य। शरीर नहीं है।

अगर वास्तविक साकारता मानी जाय तो ईश्वर का शरीर एक तमाशे की चीज बने। आपने उसके तीन नेत्र बताये थे सूर्य, चन्द्र और अग्नि। यही ठीक भी है। अगर यह नेत्र अस्मदादि के समान ही हैं तो ईश्वर की एक आंख सूर्य तो पृथ्वी से कई लाख गुना बड़ी, और चन्द्रमा पृथ्वी से भी छोटा। यहां 'त्र्यम्बकम्' मन्त्र का विनियोग सूत्रकार कात्यायन और भाष्यकार महीधर मूर्ति पूजा या शिवजी पर विल्पपत्र चढ़ाने में नहीं करते, किन्तु "अग्निं त्रिः परियन्ति" "त्रिः प्रदक्षिणं परियन्ति" अग्नि की तीन परिक्रमा कराने में करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में आया हुआ महावीर शब्द किसी देवता की मूर्ति का वाचक नहीं है, और न इस प्रकरण से मूर्तिपूजा सिद्ध होती है। महावीर का अर्थ कादम्बरी के—

विधानसम्पादितदानशोभितैः
स्फुरन्महावीरसनाथमूर्तिभिः।

इस श्लोक की टीका में

स्फुरन्त उज्ज्वलन्तो ये महावीराः श्रौताग्नयः

ऐसा किया है। अध्याय ३७-३२ के पूरा पढ़ने से सिद्ध हो जाता है कि महावीर एक मिट्टी का पात्र है जिसमें आग जलाई जाती है। कात्यायन कहता है—

'प्रादेशोच्चं त्र्यंगुलं'

शतपथ ब्राह्मण ही आगे स्पष्ट करता है

'एष वै घर्म्यः एष उ प्रवर्म्यः'

तस्मादेनं मृन्मयेन जुहोति ।५५।

शतपथ में "मिट्टी के बने हुए महावीर से हवन करता है" यह है, न कि मिट्टी से बने हुए महावीर को फूल चढ़ाता है।

पं० माधवाचार्य जी

सज्जनो ! महाशय जी ने इस टर्न में भी मूर्ति पूजा के विरोध में कोई भी वेद मन्त्र पेश नहीं किया, मैंने जो भविष्य वाणी की थी वह ठीक उतरी, अब आप देखेंगे कि इसी प्रकार कुछ समय में शास्त्रार्थ समाप्त होजाएगा परन्तु महाशय जी अन्त तक ऐसा कोई वेदप्रमाण पेश न कर सकेंगे जो कि मूर्ति-पूजा न करने का आदेश करता हो। मेरे उपस्थित किये हुए वेद मन्त्रों का आपने कहां तक माकूल उत्तर दिया है यह भी आपने सुन लिया। मेरे मुख्य प्रमाण 'त्र्यम्बकम्' और 'मुखाय ते' के उत्तर में कहा गया है कि—'ईश्वर को साकार सिद्ध करने का निष्फल प्रयत्न किया गया है जो मुझे निग्रह स्थान में ले जा रहा है'। भला ! जब ईश्वर साकार सिद्ध हो जाए तो फिर भी वह 'अमूर्त' बना रह सकता है ? ऐसी दशा में ईश्वर

की सर्वाङ्गपूर्ण मूर्ति का और उसके पूजन का प्रतिपादन करने वाले ये मन्त्र निष्फल क्यों हुए ? 'त्र्यम्बकम्' की व्याख्या करते हुए महीधर जी लिखते हैं कि 'नेत्रत्रयोपेतं रुद्रं पूजयामः' इसी प्रकार 'मुखाय ते' का अर्थ करते हुए आर्य समाज के प्रसिद्ध शास्त्रार्थी और डी० ए० वी० कालेज के प्रोफेसर पं० राजाराम जी शास्त्री ने अपने अथर्ववेद भाष्य में द्यावा-भूमि आदि के रचयिता परमात्मा के मुखादि अङ्गों की नमस्कारात्मक पूजा स्पष्ट लिखी है, इन अकाट्य प्रमाणों का खण्डन आप क्या—विश्व भर के दयानन्दी भी नहीं कर सकते ! आपने शायद केवल बदला उतारने के लिये मेरे निग्रह स्थान में जाने का जिक्र किया है। जरा उस निग्रह स्थान का नाम भी तो बताया होता ! आपकी योग्यता का पता लग जाता !! मूर्तिपूजा विधायक स्पष्ट प्रमाण दिये जाने पर भी अभी तक वे आपके कर्ण कुहर में प्रविष्ट न हो सके इसका उपाय मैं क्या कर सकता हूं ! मैं जब प्रमाण उपस्थित करता हूं तो आप दूसरे समाजियों से कानाफूंसी करने लग जाते हैं शायद 'क्या उत्तर देना चाहिये'—इसके लिये 'गोलमेज कान्फ्रेंस' जुटा बैठते हैं (हंसी) हां ! आप फरमाते हैं कि "यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक साकार की मूर्ति बनाकर पूजी जाए" आपके इस उत्तर से स्पष्ट होता है कि आपने विवश होकर ईश्वर का साकार होना तो स्वीकार कर लिया है और करना भी चाहिये ही। अब सिर्फ उसकी मूर्ति बनाकर पूजने का सन्देह बाकी रह गया है सो यदि आप मूर्ति निर्माण के ही विरोधी हैं तो उस मूर्तिमान् की अकृत्रिम='स्वयम्भू' मूर्ति की पूजा करने का प्रयत्न कीजिये। आपके इस प्रयत्न का यही परिणाम होगा

कि आपने 'शैली दारुमयी' आदि अष्टविध भौतिक मूर्तियों में अन्यतम 'मनोमयी'=स्वयम्भू लिङ्गात्मक मूर्ति द्वारा भगवान् की उपासना की है इसमें निष्ठा मात्र का अन्तर हो सकता है मूर्तिपूजा की वैदिकता और इतिकर्त्तव्यता में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता।

आप वेदोक्त ईश्वरीय मूर्ति प्रतिपादन को 'आलंकारिक कल्पना' बताकर अपनी वेदनिष्ठा का परिचय दे रहे हैं यह अत्यन्त लज्जा की बात है। इस तरह तो किसी भी वेदाज्ञा को बड़ी सफाई के साथ उड़ाया जा सकता है। रूपक की आड़ में जो आपने वेदोक्त ईश्वर के विराड्-विग्रह पर छोटी बड़ी आंख का आक्षेप करते हुए मखौल उड़ाया है यह आर्य-समाजियों को ही शोभा देता है!

आप फरमाते हैं कि मेरे पेश किये मन्त्रों का मूर्तिपूजा में विनियोग नहीं किन्तु यज्ञ में विनियोग है। महाशय जी! जिस यज् धातु से 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न हुआ है उसका अन्यतम मुख्य अर्थ 'देवपूजा' ही है, सो तत्तत् प्रतिमाओं द्वारा विभिन्न देवताओं का पूजन करना भी यज्ञ का ही एक विशिष्ट अङ्ग है, ऐसी दशा में यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों को मूर्तिपूजा में अप्रयुक्त समझना आपके पल्लवग्राही पाण्डित्य का परिचायक है, इसलिये यज्ञ में 'सहस्रस्य प्रतिमा' आदि मन्त्रों द्वारा पांचों स्थानों में दोसौ २ सुवर्ण खण्ड रूप इष्टिका प्रतिनिधि भूत एक हजार प्रतिमाएं स्थापित करके अग्नि देवता का अभिषेक किया जाता है यही कात्यायन सूत्रोक्त विनियोग का रहस्य है, परन्तु आपने अपने पांव पर स्वयं कुल्हाड़ा मारते हुवे अज्ञता-वश यह समझ कर इसे पेश करने का साहस किया है कि

शायद इस मन्त्र द्वारा धधकते हुए अग्नि कुण्ड में एक हजार अशर्फी डाल दी जाती हैं और पश्चात् पानी के घड़े उंडेल दिये जाते हैं । जब कि आपके उपस्थित किये हुए प्रमाण में ही आपके ही शब्द में—'आग हजार ईंटों का प्रमाण=प्रतिमा=प्रतिनिधि है'-फिर धातु पाषाणादि निर्मित विग्रह एक मात्र परमात्मा के प्रमाण=प्रतिमा=प्रतिनिधि क्यों नहीं हो सकते ? यह आप ही जानें !

मनुस्मृति के 'देवतार्चन' का अर्थ आप पण्डितों का सत्कार और आग से 'स्टीम' तैयार करके उससे इञ्जन चलाना मात्र प्रगट करते हैं। परन्तु आपकी इस कपोलकल्पना में कोई प्रमाण भी है ? मैंने तो इस श्लोक से प्रतिमा पूजन सिद्ध करने के लिये कुल्लूक भट्ट की टीका पेश की थी इसी प्रकार गोविन्दराज मेधातिथि आदि अन्यान्य सभी टीकाकार भी मेरे पक्ष की पुष्टि करते हैं आप भी अपने अर्थ को प्रमाणित करने के लिये किसी प्राचीन टीकाकार का प्रमाण पेश कीजिये अन्यथा आपकी कल्पना कोरी धूर्तता मात्र है।

'त्र्यम्बकम्' मन्त्र के विनियोग के सम्बन्ध में आप आक्षेप करते हैं कि कात्यायन और महीधर ने यह मूर्तिपूजन में विनियुक्त नहीं किया बल्कि 'अग्नि की तीन परिक्रमा करने में लगाया है'। आप पद २ पर अपने पक्ष का स्वयं खण्डन करते हैं, और मेरे पक्ष की पुष्टि करते जाते हैं, आपको आर्य-समाज की तरफ से खड़े होकर आर्यसमाज की ही इस प्रकार छीछा लेदड़ करनी उचित नहीं ! भला ! जड़ अग्नि के चारों ओर घूमना और उससे यह प्रार्थना करना कि 'हम त्रिनेत्र रुद्र की पूजा करते हैं···और वह हमारी मृत्यु से रक्षा करे'—मूर्तिपूजा

के सिद्धान्त का पोषक है या दयानन्दियों की निराकारोपासना का ? शायद आपको यह विदित नहीं कि वेद में रुद्र की अष्टविध मूर्ति लिखी हैं उनमें अग्नि भी एक है सो यहां उसी रुद्र प्रतिमा की षोडशोपचार पूजान्तर्गत परिक्रमात्मक पूजा का वेद विधान करता है, जिसका स्पष्टीकरण सूत्रकार और भाष्यकार ने किया है।

अब हम वेदोक्त महावीर प्रतिमा निर्माण के उत्तर में आपने जो अनावश्यक उछल कूद की है उसका पर्दा फाश करते हैं—

आपने बड़ी दौड़ लगाने के बाद कादम्बरी की टीका से यह सिद्ध करने का विफल प्रयास किया है कि वहां 'महावीराः' का पर्य्याय 'श्रौताग्नयः' लिखा है और आगे चल कर अनुपद ही आप फर्माते हैं कि—'महावीर' एक मिट्टी का पात्र है जिस '-में-' आग जलाई जाती है'— साथ ही शतपथ के प्रमाण से "महावीर 'घर्म्म्य' है 'प्रवर्ग्य' है" ऐसा भी बताते हैं! अन्त में— 'मिट्टी के बने हुवे महावीर '-से-' हवन करता है' ऐसा उचरते हैं— गर्ज है कि आपने वेदोक्त महावीर प्रतिमा को छुपाने के लिए परस्पर विरुद्ध पांच बातें कही हैं, कभी आप उसे अग्नि बताते हैं! कभी अग्निकुण्ड फरमाते हैं! कभी 'घर्म्म' = आदित्य सिद्ध करते हैं! कभी 'प्रवर्ग्य' = विष्णु का मस्तक कहते हैं! और पांचवीं किश्त में करण कारक के भाषा प्रयोग (से) चिन्ह से हवन द्रव्य किंवा स्रुव प्रकट करते हैं आपकी इस धांधली पर जनता कहकहे लगा रही है। वास्तव में आप मूर्तिनिर्माण की इस सुस्पष्ट वेदाज्ञा का किसी प्रकार भी अपलाप करने में

असमर्थ हैं इसीलिये आर्य समाज की मिथ्या लाज बचाने के लिये डूबते हुए मनुष्य की तरह बेतहाशा हाथ पांव मार रहे हैं, एक सत्य को छुपाने के लिये पांच झूठ बोल रहे हैं! अब आप अपनी प्रत्येक मिथ्या उक्ति का टकासा जवाब सुन लीजिये। कादम्बरी का मूल पद्य है—

विधानसम्पादितदानशोभितैः,
स्फुरन्महावीरसनाथमूर्तिभिः ।

बाण कवि अपने पूर्व पुरुषाओं की यज्ञ परायणता व्यक्त करते हुवे उपर्युक्त विशेषणों से यज्ञों की तारीफ करते हैं कि वे यज्ञ विधान पूर्वक सम्पादन किये हुए दान से शोभा पाते थे तथा तेजस्वी महावीर सहित मूर्तियों वाले थे। मूल पद्य में ही महावीर के साथ मूर्ति शब्द पड़ा है जिससे महावीर का प्रतिमा होना सुस्पष्ट है। यदि यहां आपका अभिमत 'श्रौताग्नि' अर्थ अभिप्रेत होता तो महाकवि—'स्फुरन्महावीरसनाथ-वह्निभिः' ऐसा प्रयोग करता, यज्ञ कुण्ड की विवक्षा में 'स्फु-रन्महावीरमखाग्निभाजनैः' ऐसा होता! जब कि मूल पद्य का सीधा अन्वयार्थ-'स्फुरन्तस्तेजसा ज्वलन्तो ये महावीराः=महावीरा-ख्याः प्रधानभूता भगवद्विग्रहास्तैः सनाथाः सहिताः मूर्तयो यत्र तथाभूतैः' ऐसा व्याकरण सिद्ध है, फिर न जाने आपने अपने जैसा प्राज्ञपुंगव टीकाकार कहां से ढूंढ निकाला है। आपको जरा यह भी तो सोचना चाहिये था कि कदाचित् 'दुर्जनतोष' न्याय से अनेकार्थत्वात् श्रौताग्नियों की भी महावीर संज्ञा स्वीकार करली जावे तब भी मेरे उपस्थित किये हुए शतपथ प्रमाण में तो मिट्टी और पानी से महावीर बनाने का विधान है। क्या

आर्य समाजी, 'दयानन्दी विज्ञान' के अनुसार बजाए काठ इन्धन चखमख और माचिस की डिबिया के--गारे के पिण्डे से आग तैयार किया करते हैं ? आखिर गारे से तैयार किये जाने वाले शतपथोक्त 'महावीर' का कादम्बरी के टीका में लिखित श्रोताग्नि के साथ जबरदस्ती वादरायण सम्बन्ध जोड़ना शास्त्रार्थ का कितना उपहास है यह पण्डित मण्डल भली भांति समझ रहा है।

'महावीर' अग्नि कुण्ड भी नहीं हो सकता यह आपके ही उपस्थित किये प्रमाणों से स्पष्ट है। आपने कात्यायन सूत्र के प्रमाण से यह बताया है कि महावीर प्रादेश [अगूठा और तर्जनी के फैलाव] के बराबर ऊंचा होना चाहिये। शतपथ के 'त्र्यंगुलं मुखमुन्नयति' के अनुसार तीन अंगुल का मुख ऊपर को उठा हुआ बनाना चाहिये। सो जिन यज्ञों में सहस्रों मन घी की शतधाराएं और सहस्र धाराएं अविच्छिन्न रूप से यज्ञ कुण्ड में पहुंचती हों वहां बिलस्त से भी कम परिमाण वाले और सिर्फ तीन अंगुल मात्र मुख वाले कुण्ड में कितनी समिधा समा सकेंगी ? और कितना हव्य स्वाहा किया जा सकेगा ? यह मोटी से मोटी बुद्धिवाला मनुष्य भी अनुमान कर सकता है। वास्तव में आप क्या--आर्य समाजी मात्र यज्ञ प्रक्रिया से परिचित नहीं हैं ! न आज तक भूतल पर किसी समाजी पण्डित ने यज्ञ कराया है न उन्हें कराना आता है। लोहे के गढ़े में रविवार के दिन डेढ़ तोला घी फूंक देना ही दयानन्दी समाज के यज्ञ की परिभाषा है, इसलिये 'न विवाह हुआ और न बरात गए' फिर आपका ऐसे शास्त्रीय विषयों में प्रवेश कहां ? [हास्य]

आप वेदोक्त मूर्ति निर्माण विधान को टालने के लिये व्यर्थ ही हाथ पांव मार रहे हैं, शतपथ में स्पष्टतया—'शिरोमध्ये संगृहीतं···व्यङ्गुलं मुख···नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति' इत्यादि शब्दों में शिर, मुख, नासिका आदि अङ्ग बनाने का उल्लेख मोजूद है और मेखला पहिनाना लिखा है। कहीं बर्तनों के भी नाक कान हुआ करते हैं ? और करधनी पहिनाई जाती है ? [हास्य]

इसके अतिरिक्त आपके पन्थ के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी ने अपने ग्रन्थ 'संस्कारविधि' में प्रणीता आदि—समस्त यज्ञ पात्रों के नाम और उनके चित्र भी दिये हैं आप दिखाइये, उन में महावीर नाम का कौनसा पात्र है ? क्या अब भी आप अपने मिथ्या भाषण पर लज्जित न होंगे ?

जिस प्रकार हमारा चेतन जीव जड़ शरीर पर की गई स्नान, चन्दन लेपन, माला-धारण आदि क्रियाओं से तृप्त होता है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड व्यापक भगवान् भी पृथ्वी आदि अङ्गों की मार्फत ही पूजा जा सकता है। शतपथ में 'यस्य पृथिवी शरीरम्' आदि प्रमाणों द्वारा पृथिवी आदि पदार्थों को भगवान् का शरीर वर्णन किया है। जिस प्रकार भूगोल विद्या में ब्रह्माण्ड की स्थिति समझने के लिये छोटा सा चित्र निर्माण किया जाता है और उसकी सहायता से समस्त ब्रह्माण्ड के सन्निवेश का इदमित्थं ज्ञान हो जाता है, ठीक इसी प्रकार विराट् भगवान् का ज्ञान प्राप्त करने के लिये शालिग्राम शिवलिङ्ग आदि प्रतिमाओं की आवश्यकता है, मूर्त्तों को यह गोलमटोल पत्थर जान पड़ते हैं परन्तु विवेकशील सनातनधर्मी उन्हीं अण्डाकार प्रतिमाओं में 'भूपादौ यस्य नाभिर्वियदसुर-

निलश्चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे' के अनुसार ब्रह्माण्ड नायक की छवि देखते हैं।

ध्यान लगाने के लिये 'योगदर्शन' के 'यथाभिमतध्यानाद्वा' कथनानुसार किसी अभिमत केन्द्र की अनिवार्य आवश्यकता है, सो सनातनधर्मी इसके लिये मूर्ति का उपयोग करते हैं। स्वामी दयानन्द जी ने भी सत्यार्थ प्रकाश में रीढ़ की हड्डी में मनका टिकाना लिखा है सो यह आपकी इच्छा है कि यदि सनातनधर्मियों की विशुद्ध सुन्दर मूर्ति में आप मन टिकाना पसन्द नहीं करते तो मल मूत्र से लिप्त पीठ की अपवित्र एवं घृणित हड्डी में टिकाइए (अट्टहास) परन्तु मूर्ति-पूजा के दायरे से आप बाहिर नहीं निकल सकते !

इस प्रकार मैंने आपके समस्त आक्षेपों का उत्तर देते हुवे वेद प्रमाणों द्वारा मूर्ति पूजा की वैदिकता सिद्ध करदी है, आप में दम हो तो मेरे प्रमाणों का खण्डन कीजिये और वेद से कोई ऐसा प्रमाण दीजिये जिसमें कि मूर्तिपूजा करना पाप बतलाया गया हो।

म० बिहारीलाल जी

हम तो अपने शरीर की पूजा से इसलिये प्रसन्न होते हैं कि हमारा शरीर 'भोगायतन' है। हम इसी के द्वारा सुख दुःख भोगते हैं। ईश्वर का शरीर सुख दुःख भोगने का साधन नहीं। पृथ्वी ही नहीं—उपनिषद् ने जल, अग्नि आदि सब को इसी तरह ईश्वर का शरीर बताया है। वह इन सब में व्यापक है परन्तु पृथ्वी आदि जड़ पदार्थ उसे नहीं जानते। भला फिर पृथ्वी से बनी मूर्ति उसे क्या जान सकती है ?

जब मूर्ति स्वयं ईश्वर को नहीं जानती तो वह हमें ईश्वर को कैसे जनाएगी ?

अखिल ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर कहा गया है तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हमारा शरीर जीवात्मा की व्याप्ति से हरकत करता है, इसी प्रकार इस विश्व को हरकत देने वाला परमात्मा है। वह सब में व्यापक है अनीश्वरवादियों को इस प्रकार ईश्वरसत्ता की आवश्यकता बताई गई है। मनुस्मृति के टीकाकार तो घोर पौराणिक काल में हुये हैं इनको यह अर्थ करना ही था। इनकी बुद्धि में इससे अतिरिक्त विचार आही नहीं सकता था। मगर निरुक्त ब्राह्मण ग्रंथ और वेदों के देखने से तो देवार्चन का प्रकार यज्ञ ही ठहरता है। रामचन्द्र जी का मूर्ति पूजन वाल्मीकि रामायण में दिखाइये।

राक्षसों द्वारा यज्ञ विध्वंस की शिकायत ऋषि लोग बार बार आर्य राजाओं से करते थे। मगर मूर्ति या मन्दिर तोड़ने की कभी शिकायत नहीं की। इससे ज्ञात होता है कि आर्य जाति मूर्ति पूजक नहीं थी। कल्पना शब्द से वाक्छल द्वारा गलत भाव न निकालिये कवित्व के साथ मिथ्या ही "सत्यं शिवं सुन्दरम्" हो जाता है। अलंकार कल्पना से बनते हैं कल्पना कवित्व का भूषण है। वेद उच्च कोटि का काव्य है आप केवल अभिधात्मिक अर्थ ही ग्रहण करते हैं लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को छोड़ देते हैं, मूर्ति के लिये तो "कल्पित" आप भी कह गये। मगर यह न सोचा कि नक्शा सर्वे करने के बाद बनता है कोरी कल्पना से नहीं। वरना हिन्दुस्तान का नक्शा गोल या त्रिभुज भी कल्पित किया जा सकेगा। महान् असीम का लघु ससीम नक्शा होता है। मगर ईश्वर है अपरिमित। उसकी

नाप तोल कहां ? फिर उसका नक्शा कैसा ! वेद कहता है "न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः" जिस ईश्वर का महान् यश है और नाम है उसकी प्रतिमा मूर्ति नपना नहीं है। पात्रों के भी नाक मुंह कान का व्यवहार होता है। घड़े का मुख, कन्ना कान। मेखला पहराने का यहां नाम तक नहीं है मिट्टी की मेखला बनाने का वर्णन है। यह मेखला ऐसे ही है जैसे हवन कुण्ड की मेखला (मेंडरी) होती है योगसूत्र में मूर्ति पूजा का वर्णन नहीं। त्राटक मात्र का आदेश है। साम्प्रदायिक मूर्ति पूजा में ध्यान जमाना कहां ! वहां तो बाहरी क्रिया कलाप होता रहता है। ईश्वर सब में व्यापक है तो माता पिता आचार्य में भी व्यापक है और आपके हृदय में भी। बस इन्हें ही पूजिये मगर पूजा आप व्याप्य की करते हैं या व्यापक की ?

पं० माधवाचार्य जी

महाशय जी ने मेरे पेश किये मूर्ति पूजा विधायक वेद मन्त्रों के खण्डन में इस टर्न में कुछ भी नहीं कहा। कहें भी क्या—जब कि भगवान् वेद स्पष्ट शब्दों में प्रतिमा पूजन का आदेश करते हैं और समस्त भाष्याकार मेरे पक्ष का समर्थन करते हैं एवं आर्यसमाज के प्रमुख पण्डित प्रोफेसर राजाराम शास्त्री भी स्पष्ट शब्दों में 'अथर्ववेद' के अपने हिन्दी भाष्य में भगवान् की सर्वाङ्गपूर्ण मूर्ति का और उसके पूजन का स्पष्टीकरण करते हैं ! ऐसी दशा में मेरे प्रमाणों ने महाशय जी के हृदय को तो विवश कर दिया है इसलिये उनका मुख बन्द है परन्तु आर्यसमाजियों की लाज रखने के लिये अन्तिम टर्न तक कुछ न कुछ बोलना तो पड़ेगा ही।

महाशय जी ने बड़ी ही उदारता के साथ यह बात भी स्पष्ट कहदी है कि वेद के अन्यतम भाग "उपनिषद् ग्रन्थों में न केवल पृथिवी को बल्कि जल आदि सब विश्व को ही ईश्वर का शरीर कहा है"। 'जादू वह जो शिर चढ़ बोले' जब कि वेद इस समस्त ब्रह्माण्ड को परमात्मा का शरीर बताता है फिर इतने बड़े शरीर वाले उस परमात्मा को समाजी निराकार और मूर्ति रहित कहने की धृष्टता क्यों करते हैं ? हमारी तरह यह क्यों नहीं मानते कि 'द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तं च' अर्थात्—ब्रह्म के दो रूप हैं एक मूर्त=साकार और दूसरा अमूर्त निराकार।

आपका आक्षेप है कि ज्ञानशून्य जड़ मूर्ति ईश्वर का ज्ञान कैसे कराएगी !—महाशय जी ! जब कि क प च ट त आदि ज्ञानशून्य जड़ वर्णमाला के अभ्यास से ईश्वरीय ज्ञान वेद का बोध होता है ! और जड़ कागज स्याही के पुलिन्दे वेद ग्रन्थों के विधिवत् स्वाध्याय से चेतन ईश्वर का ज्ञान होता है फिर मूर्ति के पूजन से उस मूर्ति अधिष्ठित सर्व-व्यापक प्रभु का ज्ञान क्यों न होगा ?

जब मनुस्मृति के समस्त प्राचीन टीकाकारों के शब्दों में 'मूर्तिपूजा' सिद्ध होने लगी तो आप निरुत्तर होकर उन सब को 'घोर पौराणिक' बताने लगे तथा उनकी बुद्धि पर अनुचित आक्रमण कर बैठे, इस तरह तो अपने किसी भी विरोधी को मूर्ख बताकर टाला जा सकता है, वास्तव में मेरे इस प्रबल प्रमाण का उत्तर आर्य्यसमाज के फहरिस्तों के पास भी नहीं है।

यदि देवार्चन का प्रकार केवल यज्ञ 'ही' होता तो मनु जी के इस श्लोक में 'समिदाधानमेव च' यह पृथक् विधान न किया

जाता, परन्तु मनुजी तो—देवर्षिपितृतर्पण, अग्निहोत्र और देवताऽभ्यर्चन इन तीनों कार्यों का पृथक् २ निर्देश करते हैं इससे स्पष्ट है देवार्चन का प्रकार यज्ञ 'ही' नहीं बल्कि यज्ञ 'भी' है। अर्थात् हरिहरादि प्रतिमाओं के पूजन की भांति यज्ञ भी देवार्चन का अन्यतम प्रकार हो सकता है।

भगवान् रामचन्द्र जी द्वारा रामेश्वर महादेव की प्रतिष्ठापना और सेतुबन्ध तीर्थ का उल्लेख मैं वाल्मीकीय रामायण के 'अत्र पूर्वं महादेवः' आदि प्रमाण से पहिले ही दिखा चुका हूं, मालूम नहीं वह आपको अभी तक क्यों नहीं दीख पड़ा ? जरा तआस्सुब की ऐनक को उतार दीजिये !

आप फ़रमाते हैं कि आर्य साहित्य में राक्षसों द्वारा यज्ञ-विध्वंस की शिकायत का तो ज़िक्र आता है परन्तु मूर्ति या मन्दिर तोड़ने का नहीं—इससे आप यह परिणाम निकालना चाहते हैं कि 'आर्य्य लोग मूर्तिपूजक नहीं थे'। महाशय जी ! आपकी प्रखर बुद्धि पर सौ सौ बार बलिहार है। प्रथम तो आपको यह विदित होना चाहिये कि राक्षस लोग सब यज्ञों के द्वेषी नहीं थे किन्तु अपने शत्रुओं द्वारा किये जाने वाले यज्ञों को ही नष्ट करते थे, जैसे रावण के अनुचरों ने विश्वामित्रादि के यज्ञों को तो नष्ट किया परन्तु घर में स्वयं मेघनाद, विजय प्राप्त्यर्थ एक बृहद् यज्ञ करना चाहता था जो कि लक्ष्मण जी के संकेत से वानरों द्वारा नष्ट कर दिया गया था, इसलिये आर्य्य साहित्य के पढ़ने से तो यही परिणाम निकलता है कि आर्य्य राजा, ऋषि मुनि और राक्षस यज्ञ तो सभी करते थे परन्तु शत्रु की अन्यान्य सम्पत्ति की भांति समय पड़ने पर एक दूसरे के यज्ञ को भी नष्ट करते थे क्यों

कि यज्ञानुष्ठान द्वारा बलवान् हुवा शत्रु का बल उपेक्षणीय नहीं हो सकता। लङ्का में रातों रात सीता को ढूंढते हुवे हनुमान् जी ने प्रत्येक राक्षस के घर में सायंकालीन अग्निहोत्र और वेदपाठ को देखा था यह रामायण के—'अग्निहोत्रं च वेदांश्च राक्षसानां गृहे गृहे' इत्यादि प्रमाणों से सुस्पष्ट है। सो राक्षस लोग न यज्ञों के द्वेषी थे, और नाहीं मूर्तियों और मन्दिरों के। पीछे प्रमाणपूर्वक यह बताया जा चुका है कि जहां भगवान् राम ने रामेश्वर महादेव का पूजन किया था वहां रावण भी नित्य स्वर्णमय शिवलिङ्ग की पूजा किया करता था।

महाशय जी! आपके कथनानुसार आर्य्य साहित्य में राक्षसों द्वारा मूर्ति या मन्दिर तोड़ने का कहीं उल्लेख नहीं है—इससे स्पष्ट है कि राक्षस कहे जाने वाले लोग चाहे कितने ही दुष्ट क्यों न थे, परन्तु वे भी वेदानुमोदित प्रतिमा-पूजन के खण्डन की धृष्टता नहीं करते थे! इधर आर्य्य नामधारी आप लोग हैं जो कि उनसे भी आगे बढ़ गए और आज भरी सभा में मूर्ति खण्डन के लिये कमर बांधे खड़े हैं क्या आपको अपनी इस हरकत पर अब भी लज्जा न आएगी?

मैंने कल्पना शब्द का वाकछल द्वारा कोई भी गलत भाव निकालने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि आप ही ईश्वर की साकारता, प्रतिमापूजन आदि वैदिक यथार्थ विधियों को कल्पना का कलेवर पहिना कर टालना चाहते हैं। इस तरह तो अग्निहोत्र आदि कर्मों को भी कोई नास्तिक कल्पित कह कर छोड़ सकता है। लौकिक कवित्व में मिथ्यात्व का चाहे मिश्रण हो परन्तु ईश्वरीय वाणी अनादिनिधन वेद में मिथ्यात्व

की परछाईं भी नहीं हो सकती। वेद निःसन्देह उच्च कोटि का काव्य है हम आवश्यकतानुसार प्राचीन भाष्यकारों के प्रमाण से वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य जो भी उचित अर्थ होता है उसी का ग्रहण करते हैं, परन्तु आर्य्यसमाजी सर्वत्र अभिधार्थ को तिलाञ्जलि देकर मनमानी ध्वनियें निकालने का आदी है जिससे वेद के सभी आदेश रचनात्मक अनुष्ठान न रह कर 'अलिफलैला' के औपन्यासिक किस्से बन जाते हैं जो किसी भी वेदानुयायी आस्तिक को अभीष्ट नहीं है। इसलिये वेदानुमोदित ईश्वर प्रतिमा को कल्पित कहना कोरी नास्तिकता है।

मैंने मूर्ति पूजा को कल्पना मात्र नहीं कहा बल्कि प्रतिमा का निर्माण बौधायन आदि कल्पसूत्रों के अनुसार कल्पित किया जाता है ऐसा बताया है, सो जैसे सर्वे करने के बाद महकमा के आदेशानुसार भूगोल का यथार्थ नक्शा तैयार किया जाता है मनमाना गोल या त्रिभुज नहीं, ठीक इसी प्रकार वेद और कल्पसूत्रों के आदेशानुसार तादृश प्रतिमा का निर्माण होता है। जैसे शतपथ के महावीर प्रतिमा निर्माण में 'तीन अगुल ऊंचा मुख बनावे' इत्यादि विधान है वह यज्ञ में तथैव पालन किया जाता है।

आपके शब्दों में-'महान् असीम का लघु ससीम नक्शा होना है' सो परमात्मा भी 'महतो महीयान्' है और सीमारहित है उसका चित्र=प्रतिमा लघु और ससीम है। ईश्वर अपरमित अर्थात् नाप तौल रहित है तभी तो उसकी प्रतिमा बनाने की आवश्यकता है जैसे—काल=वक्त=टाइम अपरमित है बुद्धिमानों ने उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये घड़ी रूप मूर्ति का निर्माण

कर लिया है घटीयंत्र की सहायता से अपरिछिन्न काल का भी यथार्थ नाप तोल हो जाता है। ईश्वरीय ज्ञान अपरमित है परन्तु उसकी प्राप्ति के निमित्त महर्षियों ने अकारादि वर्णों की मूर्तियें बनाकर उनके निरन्तर अभ्यास से वैदिक वाङमय को जान लिया।

आपने मूर्तिपूजा के खण्डन में बड़ी दौड़ धूप करने के बाद 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' यह अधूरा मन्त्रांश पेश किया है। जान पड़ता है कि आपने स्वा० दयानन्द जी के साढ़े तीन पुस्तकों का भी स्वाध्याय नहीं किया। स्वामी जी ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि—'वेद में जो प्रतिमा शब्द आता है उसका अर्थ मूर्ति नहीं है'। सो आप इस मंत्र का यह अर्थ अशुद्ध कर रहे हैं कि—ईश्वर की प्रतिमा=मूर्ति नहीं है। वस्तुतः इसका अर्थ सभी भाष्यकारों ने यही किया है कि--ईश्वर का कोई शानी नहीं है।

महावीर प्रतिमा को पात्र बताते हुवे आप फरमाते हैं कि 'पात्रों के नाक मुंह कान होते हैं' बलिहारी? मुहावरे में—बर्तनों का पेट-सुराही की गर्दन और घड़े का मुंह तो बोला जाता है परन्तु आंख नाक और कान समाजी बर्तनों के होते होंगे? लोक व्यवहार में हमने तो कभी न ऐसा सुना है और नांही देखा है [अट्टहास] मट्टी की प्रतिमा को मट्टी की ही मेखला बनाने का विधान है आगे चलकर उक्त प्रतिमा का दुग्धादि पंचामृत से स्नान कराना और धूप दीप आदि सामग्री से विधिवत् पूजना लिखा है। आप इसे भले ही पात्र २ चिल्लाते रहें इससे हमारी कुछ हानि नहीं होती क्योंकि भले आदमी को सुपात्र और बुरे को कुपात्र कहा जाता है। भगवद्गीता

में भी 'देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः' द्वारा पात्र में दान देना लिखा है। सो आप महावीर को प्रतिमा न कहकर खुशी से पात्र पुकारिये, परन्तु यह स्पष्ट है कि यज्ञ में इसका षोड़शोपचार से पूजन होता है और यजमान के कल्याण के लिये स्तुति की जाती है। यदि इतने पर भी आप इसे मिट्टी का साधारण कूजा ही समझें तो ईश्वर आप को समझे! आपको यह भी समझना चाहिये कि पात्र शब्द नपुंसक लिङ्ग है परन्तु महावीर पुल्लिङ्ग है अतः इन दोनों का विशेष्य विशेषण भाव नहीं हो सकता।

आप फरमाते हैं कि योगसूत्र में मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं। त्राटक मात्र का आदेश है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि वह त्राटक किसी परिछिन्न जड़ वस्तु में ही तो करना लिखा है यही तो हम कहलवाना चाहते थे कि ध्यान मग्न होने के लिये आरम्भ में किसी भी मूर्तिमान् पदार्थ में मनः को केन्द्रीभूत करने की अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिये तत्तत्सम्प्रदाय में बाहरी क्रिया कलाप हो जाने के बाद आभ्यन्तरिक वृत्ति-निरोध का आदेश किया गया है।

ईश्वर अवश्य ही माता पिता और आचार्य एवं अपने आप में भी विद्यमान है इसीलिये 'आचार्य्यो ब्रह्मणो मूर्तिः' बताते हुए इन सब की पूजा का भी वेद में आदेश है, परन्तु ये सब विकारी होने के कारण समय पाकर काम क्रोधादि से अभिभूत हो सकते हैं और उस दिन हमारी श्रद्धा को ठेस लग सकती है, इसलिये ईश्वर की उपासना के लिये विकारी प्रतिमा उपयुक्त न समझकर काम क्रोधादिवर्जित पाषाणादि निर्मित अष्टविध प्रतिमाओं का ही वेद विधान करता है।

हम व्यापक परमात्मा का पूजन करते हैं। परन्तु अपरिछिन्न होने के कारण सीधी=डाइरेक्ट उस तक हमारी पहुंच नहीं। अतः हम आरम्भ में व्याप्य प्रतिमा को उसके पूजन का साधन बनाते हैं परन्तु अन्त में एकीभाव की साधना से वही प्रतिमा ईश्वर रूप में परिणत हो जाती है।

महाशय जी! मेरे बार २ स्पष्ट कर देने पर भी कि हम जड़ मूर्ति की पूजा नहीं करते किन्तु सर्वव्यापक की हैसियत से मूर्ति में ओत-प्रोत चेतन परमात्मा की ही मूर्ति द्वारा उपासना करते हैं, तथापि आप जान बूझकर बार २ जड़ोपासना २ का बेसुरा राग आलाप रहे हैं शायद आपको आर्यसमाज में होनेवाली स्पष्ट जड़ोपासना के अभ्यास से यह रोग लग गया है।

हम तो ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में उसी प्रभु की बांकी छवि देखकर उसका आदर करते हैं। गीता के आदेशानुसार 'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वम्' को भगवान् समझते हैं, वृक्षों में पीपल को पूजते हैं, पशुओं में गाय को माता कहकर सम्मानित करते हैं, गंगा की झलमलाती लहरों में सलोने श्याम के दर्शन करते हैं। एव 'सिया राम मय सब जग जानी' के अनुसार जनता की सेवा को जनार्दन की पूजा समझते हैं, परन्तु आर्यसमाजी केवल आग की पूजा को ही ईश्वर की पूजा मानते हैं। स्वामी दयानन्द जी ने संस्कार विधि में मुण्डन के समय उस्तरे को विष्णु की दाढ़ कहा है और नमस्कार पूर्वक बच्चे की रक्षा की प्रार्थना की है। समावर्तन के समय लाठी छाता अंजन आदि के अतिरिक्त जूता को भी 'विश्वतो मा पातम्' कहते हुए चारों ओर से रक्षा करने की प्रार्थना की

गई है। यजुर्वेद भाष्य (१२। ७०) में पटेले पर घी, शहद, दूध और शक्कर आदि चढ़ाना लिखा है, लीजिये यह भाष्यार्थ पढ़ लीजिये, और गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक पं० रामगोपाल विद्यालङ्कार प्रणीत संस्कारविधि के टीका में समाजियों द्वारा करणीय श्रीसलीपर महाशय की उपासना देख लीजिये।

म० विहारीलाल जी

मूर्ति काम क्रोधादि दुर्गुणों से रहित है तो दया दाक्षिण्यादि शुभ गुणों से भी वञ्चित है। पूजा आप व्याप्य की करते हैं। व्यापक को छोड़ देते हैं। संसारी कामों में व्याप्य की प्राकृतिक पदार्थों की पूजा अर्थात् उसका विधिवत् प्रयोग और संभाल की जाती है। जैसे कि उस्तुरे जूते आदि वस्तुओं की। उस्तुरे, जूते आदि को कोई आर्यसमाजी भोग नहीं लगाता, न उन पर फूल पत्र चढ़ाता है। न कहीं प्रार्थना लिखी है। यदि है तो दिखाओ। हां उस पर धार धराता और पालिश करता है। पटेले वाले भाष्य को पूरा पढ़िये और भाव समझिये। दूध मीठे आदि का खाद देने से तात्पर्य है। सीरे और खांड के मैल का खाद बड़ा मुफीद होता है। यज्ञ द्वारा आर्यसमाजी आग को नहीं पूजते किन्तु इस व्याप्य सृष्टि को स्वच्छ बनाते हैं और वेद मन्त्रों द्वारा व्यापक की स्तुति से उसका ज्ञान करते हैं। क्योंकि पूर्ण काम ईश्वर की पूजा नहीं होती। उसका आत्मा से ज्ञान अर्थात् अनुभव होता है। यदि ईश्वर की सर्व व्यापकता के कारण सब का पूज्य मानते हो और जनता की सेवा को जनार्दन की सेवा समझते हो तो भारत माता के सात करोड़ लालों को अछूत कहकर क्यों

ठुकराते हो ? अपनी बनाई मूर्तियों की तो पूजा और परमात्मा की बनाई हुई मूर्तियों से घृणा ! "ब्रह्मणो द्वे रूपे" वाली श्रुति का तात्पर्य है कि ब्रह्मसृष्टि रचना द्वारा मूर्त अर्थात् व्यक्त है और वैसे अव्यक्त।

जो मंत्र जूता पहनते और उस्तरे की धार वगैरह की जांच करते वक्त पढ़ने श्री स्वामी जी ने लिखे हैं वे उन्हीं सूत्र ग्रन्थों के हैं जो आपको भी मान्य हैं। आर्यसमाज का यह पक्ष तो आपको भी स्वीकृत है। अतः सिद्ध है।

वेद के मन्त्र जो आपने पेश किये, उनका विनियोग यज्ञ ही में निकला। पात्र शब्द नपुंसकलिङ्ग है मगर पात्र के विशेषवाच्य "घट" "कलश" "कटाह" यह तो पुलिंग हैं। महावीर भी पात्र विशेष है। महावीर के नाक मुख तो बताये मगर पूंछ नहीं यदि मूर्तिपूजा की विधि वेद प्रमाणित नहीं तो निषेध स्वयं सिद्ध है। आप अपने ही मान्य मन्त्रों पर शङ्कायें करके अपने मन्तव्य का ही उपहास कर रहे हैं। शोक है कि आप तर्जे कलाम या वाक्य शैली को समझने का कष्ट नहीं उठाते देखिये वेदान्तदर्शन कहता है:—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्

कोई विशेष बात जताने या अनुगति के कारण अभिमानिव्यपदेश, जड़ों से चेतनवत् कलाम होता है जैसे "मञ्चा क्रोशन्ते" से मञ्चस्थ पुरुष समझे जाते हैं। इसी प्रकार उस्तुरे से उस्तुरे के प्रयोग कर्त्ता को, जूते से जूते के पहिरने वाले को (अपने को ही) समझना है। इसी प्रकार पटेले की बात है जरा देखिये तर्जे कलाम फारसी हिन्दी दोनों में:—

कलम गोयद के मन् शाहे जहानम्

क्या कलम बोलती है ? कोई कवि किसी सुन्दरी के भाव का वर्णन करता है:—

ऐ माटी के कुल्हड़ा मैं तोहि पूछौं बात।
होंठ रंगे हैं पीव को तू क्यों चिपट्यो जात॥

कहिये क्या जड़ कुल्हड़ समझते हैं ? कुल्हड़ उत्तर देता है।

लात सहे घूंसा सहे, सहे अगिन घन घाय।
तब प्यारी तव होंठ को स्वाद चखो है आय॥

कहिये क्या यहां कुल्हड़ में बोलने की क्षमता है ? आचार्य जी वाक्य शैली पर ध्यान देने का कष्ट उठाया करिये।

वेद में रोजा नमाज का निषेध नहीं है मगर किसी सनातनी का रोजा रखना, नमाज पढ़ना, आप पसन्द न करेंगे क्योंकि अवैदिक कृत्य है। म्लेच्छाचार है, आर्याचार नहीं। ठीक इसी तरह मूर्तिपूजा वैदिक विधि न होने से आर्य धर्म नहीं। मूर्ति पूजा पाप है वा नहीं यह विचार इस समय नहीं है। इस समय तो विचार है कि यह वैदिक प्रथा है या नहीं। मूर्ति पूजा पाप न सही, मगर एक ऐसा व्यर्थ काम है जैसे कोई मनुष्य अपने ही कपड़े बार २ फाड़े और फिर सिये अपनी मूंछ का बाल उखाड़े और उसके हजार टुकड़े करता रहे। यह कोई जुर्म या अपराध तो नहीं मगर वक्त की बरबादी अवश्य है। इसी प्रकार मूर्ति पूजा से समय और धन की बरबादी होती है। ईश्वर इन्द्रियागोचर एवं कल्पनातीत है। उसको "नेति नेति" कर गाया गया है फिर उसे इत्थमिति कहकर क्यों उसकी अनन्तता का अपमान करते हो ! निराकार का गोल मटोल आकार बनाना भी तो एक निराधार कल्पना ही है। मूर्ति सृष्टि की बन सकती है, स्रष्टा की नहीं। मूर्तिपूजा पाप नहीं

मगर पुण्य भी तो नहीं। एक निरर्थक काम क्या होता है वही मूर्ति पूजा है। वेद या आर्य ग्रन्थों में मूर्तिपूजा का खण्डन न होना सिद्ध करता है कि मूर्तिपूजा उस काल में नहीं थी। उस आर्य काल में तो जहां देखिये यज्ञों का ही वर्णन आता है। भगवान् मूर्ति में हैं और उससे बाहर भी। हम शरीर में ही हैं और उससे बाहर नहीं। हमें जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन्हें पाकर प्रसन्न होते हैं जैसे गर्मी में वर्षा का ठंडा जल और जाड़े में गरम चाय या अंगीठी पर तपना। इसके विपरीत अप्रसन्न होते हैं। ईश्वर पूर्ण काम है। उसे किसी पदार्थ की आकांक्षा नहीं। अगर वह मूर्ति पर फूल चढ़ाने से प्रसन्न हो तो मूर्ति को चोट पहुंचने से दुःखी भी होगा जैसा कि अपने शरीर को चोट पहुँचने से हम। अगर ऐसा हो तो उसको मनुष्य सुखी दुखी कर सकेगा। इस दशा में मनुष्य गालिब ठहरेगा, ईश्वर मगलूब। वह निर्विकार है। उसको अपने जैसा कल्पित नहीं करना चाहिये। ध्यान रहे कल्पना की भी मर्यादा होती हैं। कल्पना सार्थक सप्रयोजन होती है निरर्थक निष्प्रयोजन नहीं। हमने बताया कि मूर्ति पूजा वैदिक नहीं है। आपका श्रीमद्भागवत पुराण भी इसे तान्त्रिक विधि बता रहा है। यथा—

विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केवलम्।

दयानन्दियों की नैतिक मौत!

नियमानुसार प्रत्येक वक्ता को बराबर २ समय देना निश्चित हुवा था, आरम्भिक टर्न आर्यसमाज की थी तो अन्तिम टर्न सनातनधर्म की होनी चाहिये थी, परन्तु लखनवी समाजी

आचार्य जी की प्रमाण पुरस्सर युक्तियुक्त वक्तृता से दयानन्दी कल्पित पन्थ की धज्जियें उड़ती देख कर इतने परेशान हो रहे थे कि महाशय विहारीलाल जी की आखिरी टर्न समाप्त होते ही पूज्य आचार्य जी की ओर से दिये जाने वाले उत्तरों को न सुन सकने के विचार से हो हल्ला मचाकर सभा भंग करने का प्रयत्न करने लगे। कई गुण्डे समाजियों ने तो शास्त्रार्थ को शस्त्रार्थ में परिणित कर देने के लिये हाथा पाई-गुत्थमगुत्थी भी आरम्भ करदी—इस प्रकार दश पन्द्रह मिनट तक काफी गुल गपाड़ा रहा, परन्तु पूज्य आचार्य जी ने अपने नित्य के अनुभव के आधार पर शास्त्रार्थ से पूर्व ही सब सनातनधर्मी युवकों को समझा दिया था कि समाजी भाई शास्त्रार्थ में पराजित होकर 'खिसियानी बिल्ली खंबा नोंचे' के अनुसार मुझे और ऋषि मुनियों को गालियें सुनाएंगे तथा मारपीट पर भी उतारू हो जायेंगे, सो यदि तुम सनातनधर्म की विजय वैजयन्ती को ऊंचा करना चाहते हो तो शान्त और बिल्कुल शान्त रहकर उनके इस ओछे हथियार को निरर्थक सिद्ध कर देना! इस विजय मन्त्र को नहीं भुलाना!! सो समस्त सनातनधर्मी शान्ति खड्ग से दयानन्दियों की दुर्जनता का मुकाबला करते रहे, साथ ही आचार्य जी ने गुल गपाड़े के शृगालरव को अपने ओजस्वी सिंह नाद के साथ पराभूत करते हुए महाशय विहारीलाल आदि जिम्मेवार समाजियों को इस नैतिक पतन की पराकाष्ठा पर इतना लज्जित किया कि वे मारे शर्म्म के जमीन में गड़ गए और काफी हो-हल्ला मच जाने पर भी सभा स्थान छोड़ते न बना। अन्ततो गत्वा न्याय ने अन्याय पर विजय प्राप्त की और श्री आचार्य जी ने

अपने सत्य की संरक्षा करते हुए अपनी अन्तिम वक्तृता इस प्रकार आरम्भ की।

पं० माधवाचार्य जी

महानुभाव! मेरी इस वक्तृता की समाप्ति के साथ मूर्ति पूजा का शास्त्रार्थ समाप्त हो जाएगा फिर अभी २ इसी प्रकार दयानन्द कृत ग्रन्थों की वैदिकता पर दूसरा शास्त्रार्थ होगा यह आपको प्रधान जी ने पहिले से ही सूचित कर दिया है। दयानन्दी भाई मेरे वेद प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों से बौखला उठे हैं इसलिये वे मेरे इस भाषण को सुनने से पूर्व ही हल्ला मचाकर भाग जाने का निष्फल प्रयत्न करते थे। आपने शान्त रहकर जो सहिष्णुता की पराकाष्ठा दिखाई है एतदर्थ आप सनातन धर्म का आदर्श स्थिर रखने के उपलक्ष में धन्यवाद के पात्र हैं।

इस शास्त्रार्थ को आपने सादन्त सुना है महाशय जी मेरे पेश किये किसी भी वेद मन्त्र को छू तक नहीं सके और मेरे बार २ चेलेंज करने स्वयं भी मूर्तिपूजा का निषेध करने वाला कोई मन्त्र अन्त तक पेश न कर सके। ऐसी दशा में शास्त्रार्थ का जो परिणाम हुआ है वह मेरे कहने का विषय नहीं वह आपने स्वयं अनुभव कर लिया है।

इस टर्न में महाशय जी ने कोई नई बात नहीं कही तथापि जो प्रमाण शून्य लापा पोती का है मैं उसका भी कलई खोलता हूं। आप मूर्ति के सम्बन्ध में फरमाते हैं कि 'वह काम क्रोधादि से रहित है तो दया आदि शुभ गुणों से भी वञ्चित है'- निस्सन्देह मूर्ति ऐसी है परन्तु हम मूर्ति द्वारा जिस मूर्ति व्यापक

भगवान् की उपासना करते हैं वह तो निर्गुण होता हुआ भी सर्व गुणों का आगार है। जिस प्रकार परमात्मा निर्लेप निरञ्जन कहा जाता है इसी प्रकार मनुष्यादि के शरीर की अपेक्षा पाषाणादि निर्मित प्रतिमा भी एक सीमा तक अधिकारी है, इसलिये वेद में मनुष्य अस्थि पंजर मय विग्रह को भगवद् आराधना का असाधन बताकर 'शैली दारुमयी' आदि अष्टविध प्रतिमाओं को पूज्य कहा है। सो हम तो व्याप्य द्वारा व्यापक की पूजा करते हैं। परन्तु आर्य समाजी तो व्याप्य को व्यापक की पूजा का साधन नहीं मानते, इसलिये आपके यहां जो छुरे जूते आदि को संबोधित करके नमस्कार किया गया है और रक्षा की भीख मांगी गई है वह निस्सन्देह जड़ पूजा है। आप छुरे जूते की पूजा का अर्थ 'विधिवत् प्रयोग और संभाल' प्रकट करते हैं यह आपकी धूर्तता है। संस्कार विधि में तो—'हे छुरे, तू विष्णु की दाढ़ है तुझे नमस्कार हो। हे जूते! मेरे पांवों की रक्षा कर'—ऐसा लिखा है लीजिये! यह संस्कार विधि की भाषा टीका पढ़ लीजिये। आप व्यर्थ ही—'विधिवत् प्रयोग और संभाल' का बहाना करते हैं। विश्व भर के किसी भी कोशकार ने भी पूजा शब्द का ऐसा अर्थ नहीं किया। क्या गुरुकुलों में बीस २ वर्ष तक पढ़ने पर भी समाजी स्नातकों को रहन सहन का सलीका नहीं आता? जो कि इन अढ़ाई-बीस वर्ष के खुर्राट बूढ़ों को 'विधिवत् प्रयोग और संभाल' की शिक्षा देनी पड़ती है?

पूजा केवल भोग लगाने का ही नाम नहीं है बल्कि गन्ध पुष्प धूप दीप पंचामृत स्नान और नमस्कार आदि सभी षोडश उपचार पूजा के अन्यतम अङ्ग हैं सो समाजी छुरे जूते की

नमस्कारात्मक पूजा करते हैं पटेले का पंचामृत से स्नान कराते हैं, आर्याभिविनय के—'वायवाहि दर्शते मे सोमा अरं कृताः' मन्त्र से गिलोय के काढ़े का भोग लगाते हैं। निष्क्रमण संस्कार के समय चान्द को जल की अंजलि भर कर अर्घ्य प्रदान करते हैं, गर्ज है कि अनेक जड़ पदार्थों को षोडशोपचार से पूजा करते हैं।

वास्तव में आप आर्यसमाज की इस जड़ोपासना का प्रतिवाद करने में असमर्थ हैं इसलिये सत्य को बालाए ताक रखकर बेतहासा हाथ पांव मार रहे हैं। कभी कहते हैं उस्तरे की धार धरानी लिखी है! कभी कहते हैं पालिश करानी लिखी है!! कभी दूध मीठे आदि का स्वाद डालने के खयाल देखते हैं!!! आपकी इस दयनीय दशा पर मुझे बड़ा तरस आरहा है। अफसोस है कि इतने हाथ पांव मारने पर भी दयानन्दी ग्रन्थों की हिन्दी इबारत आपका साथ नहीं दे रही है, जनता का कोई भी हिन्दी पढ़ा लिखा सज्जन आए और मेरे हाथ में जो समाज के प्रमाणिक पुस्तक मौजूद हैं इन्हें पढ़कर सर्वसाधारण को सुनादे। [सन्नाटा]

आप पद पद पर अपना बयान बदलते हैं। अभी पहली टर्नों में आपने यज्ञों को देवार्चन का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया था परन्तु जब इससे जड़ अग्नि द्वारा चेतन परमात्मा की उपासना सिद्ध होने लगी तो अब मच्छर की पैड़ में बदल गए और यज्ञों से सृष्टि को स्वच्छ बनाने चले। मानो म्युनिसिपैलिटी ने खाकरूब माशकी और फनैल छिड़कने वालों की तरह समाजी याज्ञिकों को भी सफाई का ठेका दे रक्खा है (अट्टहास) समाजी भाई बिहारीलाल जी के फतुवे को जरा कान खोलकर सुनलें!

आपने अभी २ फरमाया है कि 'ईश्वर की पूजा नहीं होती, ज्ञान होता है' सो क्या किसी वस्तु के जान लेने मात्र से मनुष्य कृत-कार्य हो जाता है ? यदि हां तो आप रोटी और पानी को खूब जानते हैं बस ! अब भोजन खाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। आप तो स्वामी दयानन्द जी से भी दो हाथ आगे निकल गए ! स्वामी जी ने तो मूर्ति की ही पूजा का खण्डन किया था परन्तु आपने तो ईश्वर पूजा पर भी चौंका लगा दिया।

हम बिला शक समस्त विश्व को प्रभुमय जानकर पूज्य मानते हैं तथा जनता की सेवा को जनार्दन की उपासना समझते हैं। भारत माता के सात करोड़ लाल अन्त्यज भाइयों को क्या—हम तो बलिवैश्वदेव के समय न केवल मनुष्य चाण्डलों को अपितु पशु चाण्डाल कुत्ते को, पक्षी चाण्डाल कौवे को एवं आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त कीट पतङ्गादि को भी नित्य बलि उपहार द्वारा पूजते हैं। रहा अस्पृश्यता का आक्षेप—सो तो हम वेदाज्ञा का पालन करने के लिये रजस्वला होने के समय अपनी अर्धाङ्गिनी को भी चार दिन अस्पृश्य मानते हैं, अपने इकलौते बेटे को भी चौंके पर नहीं चढ़ने देते ! अपने बांये हाथ को भी गुह्याङ्ग स्पर्श के बाद बिना धोये मुख से नहीं छुहाते, और तो और हम स्वयं अपने आपको भी जननाशौच और शावाशौच के दिनों में अस्पृश्य मानते हैं। परन्तु हमारी यह व्यवस्था घृणा मूलक नहीं है, अपितु विज्ञान मूलक वेद मर्यादा का सज्जनोचित संरक्षण मात्र है।

आपने 'द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे' श्रुति के उत्तर में कहा है कि ब्रह्मसृष्टि रचना द्वारा मूर्त=अर्थात् व्यक्त है और वैसे अव्यक्त। हम भी तो यही कहलवाना चाहते थे कि परमात्मा केवल

निराकार नहीं है अपितु साकार भी है, और यह सृष्टि उसी परमात्मा के विवर्त का परिणाम मात्र है, आपकी इस सत्योक्ति से दयानन्द कल्पित केवल निराकारवाद की धज्जियें उड़ गई हैं।

छुरे आदि के सम्बन्ध में संस्कारविधि का जो लेख है वह हमारे मान्य सूत्रग्रन्थों का अवश्य है, परन्तु हम तो 'अभिमानिनि व्यपदेशस्तु' इस व्यास सूत्र के अनुसार तत्तद् जड़ वस्तुयों के विभिन्न अभिमानी चेतन देवता मानते हैं, इस लिये हमारे मत में तो इन सब का अभिमानित्व व्यपदेश से समन्वय हो जाएगा, परन्तु जड़वादी दयानन्दी मत तो तादृश देव-सत्ता का कायल नहीं अतः हम तो जड़ द्वारा चेतन के पुजारी हो सकते हैं परन्तु आप तो कोरे चालीसेरे जड़ के पुजारी ठहरे न! आया खयाले शरीफ में? [अट्टहास]

मेरे पेश किये वेदमन्त्रों का विनियोग जरूर यज्ञ में निकला, परन्तु यज्ञ शब्द का अन्यतम अर्थ भी तो देवपूजा अर्थात् प्रतिमा द्वारा हरिहरादि देवताओं का पूजन निकल आया अब क्या कीजियेगा?

पात्र शब्द के घटादि पर्य्याय पुलिङ्ग हो सकते हैं, परन्तु किसी भी कोश में, 'महावीर' तो पात्र का पर्य्याय नहीं लिखा, ऐसी दशा में निर्वचन सिद्ध और लिङ्गसिद्ध देवविग्रह को जबरदस्ती पात्र कैसे बना सकते हो? महावीर की पूंछ न होने की आपने खूब कही! शायद आपने महावीर को यहां हनुमान की प्रतिमा समझ लिया है। वस्तुतः यज्ञ के सर्वोपरि देवता प्रजापति की प्रतिमा का ही महावीर नाम है इसलिये अपने दिमाग से महावीर की दुम का दुमछल्ला निकाल दीजिये (हंसी)

वेद में मूर्तिपूजा का निषेध न दिखा सकने की अपनी लाचारी पर आप उचरते हैं कि 'निषेध स्वयं सिद्ध है'। यह भी एक ही रही! यदि बिना प्रमाण ही विधिनिषेध स्वयं सिद्ध होने लगा तब तो सब कुछ ही स्वयं सिद्ध है फिर वेदों की आवश्यकता ही क्या रही! यह नास्तिकता आर्यसमाज को ही मुबारिक रहे! हम तो महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में 'शब्दप्रामाणिका वयम्' होने में ही अपना गौरव समझते हैं।

छुरे और जूते ने आपको इतना परेशान किया है कि रह रह कर आप फिर वही लचर उत्तर दोहराते हैं जब तक आर्यसमाज जड़ाभिमानी चेतन देवों की सत्ता नहीं मानेगा तब तक सौ दांव पेंच खेलने पर भी यह जूता आपका पीछा न छोड़ेगा। अभिमानिनि व्यपदेशस्तु का आपने जो मनमाना अर्थ किया है वह आपके दर्शन ज्ञान का ज्वलन्त उदाहरण है। कोई भी सज्जन आपके अर्थ को सुनकर झटिति यही कहने के लिये बाध्य होगा कि आपने वेदान्त दर्शन के कभी दर्शन भी नहीं किये।

आप मन्तव्य लड़ाते हैं कि—'उस्तरे से उस्तरे के प्रयोगकर्ता को और जूते से—जूते के पहिननेवाले को समझना है'। खूब समझिये! और अच्छी तरह समझिये!! हम कब हटाते हैं? परन्तु याद रहे रंग में भंग होजाएगा यदि मुण्डन के लिये हज्जाम को बुला कर उसके उस्तरे से उसी निरपराध गरीब को समझियेगा तो नाइयों की पञ्चायत दयानन्दियों का बहिष्कार कर देगी फिर सेफ्टीरेजर से स्वयं ही मुण्डन करना पड़ा

करेगा। [महाट्टहास] हां भला ! यह मामला तो यथा तथा निबट भी जाएगा परन्तु जूता पहिनने वाले समावर्तन संस्कार संस्कृत यजमान को भी यदि 'जूते से' समझियेगा तो दक्षिणा भी कुर्क हो जायगी ! पड़े टापते रह जाओगे। [महाट्टहास] उस्तरे का अर्थ नाई और जूते का अर्थ समावर्तन संस्कार संस्कृत म० बिहारीलाल आर्योपदेशक ! धन्य है आपकी बुद्धि को !

मालूम होता है कि आपका वेद प्रमाणों का दीवाला निकल गया है तभी तो फारसी के 'कलम गोयद' वगैरह शेर और देहाती के 'माटी के कूल्हड़ा' लुढ़काने लगे हो। याद रहे आपके इस मर्कट चापल्य पर साक्षर जनता हंस रही है प्रकृत शास्त्रार्थ से इन बातों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिये मैं इनकी उपेक्षा करता हूं। और वेद में मूर्तिपूजा का निषेध न होना स्वीकार करते हुवे उसे रोजा और नमाज की तरह अनाचरणीय बताते हैं परन्तु आपको यह विदित नहीं वेद में भी व्रतोपवास और वन्दनात्मक भक्ति का विधान विद्यमान है प्रमाणार्थ—'अग्ने व्रतपते ! व्रतं चरिष्यामि' और 'वन्दामहे त्वा' आदि श्रुतियें दर्शनीय हैं। सो रोजा नमाज भी यूं तो व्रत और साष्टाङ्ग प्रणाम का ही विकृत रूपान्तर हैं परन्तु प्रातः सूर्य्योदयात प्राक् पर्य्युषित खाना एवं निरन्तर पश्चिमाभिमुख होकर ही औंधे घुटने के आसन से असंस्कृत अपशब्दों का उच्चारण करना—इत्यादि दोष जो रोजा और नमाज में प्रविष्ट होगए हैं इसीलिये यह म्लेच्छाचार तथा वेदाभिमानियों के लिये अननुकरणीय है परन्तु मूर्तिपूजा का तो सर्वाङ्गपूर्ण विधान मैं वेद में दिखा चुका हूं जिसका कि आप अन्त तक कुछ भी उत्तर नहीं दे सके।

चलो आज के शास्त्रार्थ में एक बात का तो आपने स्पष्ट निर्णय कर दिया कि—मूर्तिपूजा पाप नहीं है, और नांही अपराध है, एवं वेद में मूर्तिपूजा का खण्डन नहीं है—आपकी यह वाक्यावलि मूर्तिपूजा सिद्धान्त के लिये विजयस्तंभ का काम देगी, किन्तु यह सब कुछ होते हुवे भी आप दयानन्दियों को सन्तुष्ट करने के लिये मूर्तिपूजा को निरर्थक, समय और धन की बरबादी का हेतु अभीतक प्रकट करते हैं सो आपका यह भ्रम भी उस दिन दूर होजाएगा जिस दिन कि आप विधिवत् मूर्तिपूजा करके देखेंगे। तब आपको मालूम होगा कि ईश्वर प्राप्ति का सार्थक साधन मूर्तिपूजा से बढ़ कर अन्य नहीं है तथा ईश्वर प्राप्ति की साधना में समय लगाना ही समय का सदुपयोग है, यदि तुच्छ धन भी परमार्थ पथ में हमारा सहायक बन सके तो उसकी यह बरबादी नहीं बल्कि भगवान् की प्रसादी समझनी चाहिये।

इन्द्रियागोचर एवं कल्पनातीत परमात्मा को 'इदमित्थं' समझने का प्रयत्न करना उसकी अनन्तता का अपमान करना नहीं है बल्कि उसकी अनन्तता के समुद्र में समस्त शान्त पदार्थजात को सदा के लिये लय कर देना है जिसका साधन ब्रह्म की स्वयंभु-मूर्ति=ब्रह्माण्ड के सदृश प्रतिमा का निर्माण करके उसमें निखिल विश्व का आरोप करना निराधार कल्पना नहीं है बल्कि वेदमूलक वैज्ञानिक रहस्य है। जब कि एकेश्वरवादी आस्तिक के लिये 'हरिरेव जगद् जगदेव हरिः' के अनुसार यह सृष्टि भी स्रष्टा की ही प्रतिमा है फिर आपका यह कहना कि— स्रष्टा की मूर्ति नहीं बन सकती' सर्वथा भ्रम मूलक है।

आप फरमाते हैं कि--'वेद में मूर्तिपूजा का निषेध न होना यह सिद्ध करता है कि उस काल में मूर्तिपूजा नहीं थी'--शान्तं पापम् ! क्या आप अनादि निधन त्रिकालाबाधित वेदों को भी किसी खास काल की चीज़ समझते हैं ? यह तो पाश्चात्य लोगों की धारणा है, आपकी इस विवेचना का तो यह अभिप्राय निकलता है कि वेदों के निर्माणकाल में जो २ रीति रिवाज प्रचलित थे वेदों में केवल उन्हीं का उल्लेख है। क्या आपने इन शब्दों को कहकर वेदों के अनादित्व पर कुठाराघात नहीं किया है ? इस अक्षम्य पाप का आपको प्रायश्चित्त करना चाहिये।

भगवान् निःसन्देह मूर्ति के अन्दर और बाहिर भी तथैव विद्यमान हैं एवं पूर्णकाम भी हैं, परन्तु पूर्णकाम परमात्मा को हमसे अपनी स्तुति सुनने की एवं उपासना करवाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है तथापि हम अपने कल्याण के लिए यह सब कुछ करते हैं। परमात्मा सर्वव्यापक की हैसियत से समाज मन्दिर की तरह फुटपाथ (Foot Path) में भी तथैव विद्यमान है परन्तु आप रविवार के दिन समाज मन्दिर में ही बैठकर ईश्वर उपासना करते हैं इसी प्रकार हम वेदाज्ञानुसार सर्वव्यापक प्रभु की अष्टविध प्रतिमाओं द्वारा पूजा करते हैं तथा ईश्वर के पूर्णकाम होने पर भी 'केवलाघो भवति केवलादी' के पाप से बचने के लिए प्रभु प्रदत्त वस्तुओं को 'तुभ्यमेव समर्पये' के अनुसार उसी की भेंट करते हैं।

ईश्वर फूल चढ़ाने से प्रसन्न नहीं होता फूल तो उसकी ही विभूति का अकिंचित्कार विकाश है, वह तो भक्तों की उस श्रद्धा और भक्ति पर प्रसन्न होता है जो कि पुष्पादि सामग्री के रूप में प्रभु के चरणों में अर्पित की गई है।

हमारा शरीर एकदेशीय है अतः हम आत्म भिन्न वस्तुओं की प्राप्ति होने पर रागद्वेष की मोहमयी कल्पना के कारण अनुकूलता और प्रतिकूलता के तारतम्य से प्रसन्न किंवा अप्रसन्न होते हैं परन्तु प्रभु तो निर्विशिष्ट सर्वव्यापी है अतः किसी वस्तु द्वारा उसे चोट पहुँचने का अवसर ही नहीं आसकता! यदि आपकी मन्तक के अनुसार यूंही मनुष्य गालिब और ईश्वर मग़लूब होने लगा तब तो जहां कोई आस्तिक प्रभु आज्ञा का पालन करके उसे प्रसन्न करता है वहां कोई शैतान वेदाज्ञा के प्रतिकूल आचरण करके प्रभु को दुःखित भी कर देगा और आपके शब्दों में स्वयं गालिब होकर ईश्वर को मग़लूब कर सकेगा। वस्तुतः ऐसा नहीं है। जैसे मच्छर की फूंक से हिमालय का कुछ नहीं बिगड़ सकता इसी प्रकार अकिञ्चन जीव सर्वशक्ति-सम्पन्न परमात्मा की तो क्या अवज्ञा कर सकता है परन्तु विरुद्धाचार से स्वयं ही विनष्ट अवश्य हो जाएगा।

श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर जो आप मूर्तिपूजा को तन्त्रोक्त विधान बता रहे हैं इससे मूर्तिपूजा की वैदिकता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता क्योंकि तन्त्र ग्रन्थों में वेदमूलक उपासना रहस्य का ही विस्तार से वर्णन है।

इस प्रकार मैं आपके सब आक्षेपों का उत्तर देने के बाद अन्त में फिर एक बार स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरे पेश किये वेदमन्त्रों का उत्तर भार अभी तक आपके सर पर ज्यों का त्यों बना हुआ है, अब कृपा करके अपने हस्ताक्षर सहित वह दोनों वाक्य लिखकर मुझे दे दीजिये जिनको कि आपने अपनी प्रत्येक टर्न में प्रायः दोहराते हुए स्वीकार किया है कि—

'मूर्तिपूजा का निषेध वेद में नहीं है और नांही मूर्तिपूजा करना पाप है, तथा ईश्वर की पूजा नहीं होती'—इत्यादि।

[यह शास्त्रार्थ यहीं समाप्त होगया सभाध्यक्ष ने म० विहारी-लालजी को उपर्युक्त दोनों वाक्य शीघ्र लिखदेने का आदेश किया जिससे कि दयानन्द कृत ग्रन्थों पर दूसरा शास्त्रार्थ आरम्भ होने में विलम्ब न हो, महाशय विहारीलाल जी ने चिटें लिखनी आरम्भ करदीं, परन्तु समाजियों ने आपस में काना फूंसी करके ऐसा करने से रोक दिया और दूसरा शास्त्रार्थ न करने के लिये तरह तरह के बहाने करने लगे, कभी कहते थे देर होगई है, कभी कहते थे जनता अधिक नहीं बैठ सकती, कभी बोलते थे अभी मूर्तिपूजा का ही निर्णय नहीं हो पाया। म० विहारीलाल जी 'महावीर' के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की ही रट लगा रहे थे जिससे दयानन्द कृत ग्रन्थों के शास्त्रार्थ से जान बच सके। समाज के स्टेज पर इस समय अव्यवस्था का साम्रा-ज्य हो गया था। समाज के प्रधान से लेकर सभी ऐरे गैरे नत्थू-खैरे मन मानी बोलियें बोलते थे। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो ये सब महाशय—पं० विहारीलाल जी की निर्बलता के कारण होने वाले आर्यसमाज के पराजय को अब अपनी २ वक्तृता के बल से पोंछना चाहते हैं और इस फन में हर एक वक्ता अपने को विहारीलाल जी से ज्यादह योग्य समझता है। इस लिये एक दूसरे की बात अनसुनी करके उसे ढकेल कर स्वयं 'दही भात में मूसलचन्द' होकर आगे बढ़ आता है। वह समय देखते ही बनता था कि जब कि एक ओर तो यह खिसियानी दयानन्दी सेना ओछे हथियारों का प्रक्षेप कर रही थी दूसरी तरफ तथैव शान्तचित्त आचार्य जी सब की अंड

बंड बातों का माकूल उत्तर देते हुए अपने शास्त्रार्थमहारथित्व को सार्थक कर रहे थे। आचार्य जी के पूछने पर जनता भी बोल रही थी कि दूसरा शास्त्रार्थ शीघ्र आरंभ होना चाहिये हम सब अन्त तक बैठे रहने को तैयार हैं। इस तरह पन्द्रह बीस मिनट तक कशमकश चलती रही, परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी समाजी भाई दूसरे शास्त्रार्थ के लिये तैयार न हुवे बल्कि शास्त्रार्थ की भूमिका बांधने को उद्यत होगए अन्ततोगत्वा सभाध्यक्ष जी ने वक्त सम्भालते हुवे धन्यवाद पूर्वक सभा विसर्जित की। जनता ने गगन भेदी स्वर से सनातन धर्म के जयकारे बोलते हुवे अपने हर्षोद्रेक का प्रकाश किया।

शास्त्रार्थ फल निर्णय-

यद्यपि शास्त्रार्थ के पढ़ने मात्र से पाठक स्वयं ही यह अनुभव करेंगे कि इस एक ही शास्त्रार्थ में आर्य्यसमाज को कितनी बार पराजित होना पड़ा है और महाशय सत्यव्रत जी तथा विहारीलाल जी को किस प्रकार पद पद पर आचार्य्य जी ने परास्त किया है—तथापि 'प्रामाणिक शास्त्रार्थ' ट्रैक्ट के लेखक म० विहारीलाल जी ने अपने मुंह मियां मिठ्ठू बनते हुवे अन्त में पूरे बारह पृष्ठ काले करके शास्त्रार्थ की आलोचना के नाम पर जो 'लबड़ धौं धौं' की है उसका पड़दा फाश करने के लिये और विज्ञ पाठकों को बिना परिश्रम तथ्य की सीमा तक पहुंचाने के निमित्त ये चन्द पंक्तियें लिखनी आवश्यक समझी गई

१—लखनऊ के आर्य्यसमाजियों ने—उभयपक्ष की ओर से केवल वेद प्रमाणों का दिया जाना और फल निर्णायक मध्यस्थ का होना—ये दोनों नियम स्वीकार नहीं किये--क्योंकि दयानन्दी टोले को यह भली भांति विदित है कि वेद दयानन्द कल्पित सिद्धान्तों का समर्थन नहीं करते और शास्त्रार्थ में मध्यस्थ के होने से शत प्रतिशत समाज का ही पराजय घोषित किया जाता है,--सो यह सैद्धान्तिक दौर्बल्य की मूक स्वीकृतिरूप समाज का पहिला प्रधान पराजय है।

२—प्रथम दिन सभाध्यक्ष की ओर से शास्त्रार्थ के आरम्भ होजाने की सूचना दे देने पर भी म० सत्यव्रत जी तेरह मिनट तक पत्थर की मूरत बने चुपचाप ताकते रहे, आखीर सात मिनट फांसी के तख्ते पर खड़े हुवे अपराधी की तरह कांपते हुए अपनी अनोखी कपिता का पुण्य पाठ किया और पश्चात मकान मालिक का बहाना बनाकर पुस्तक बगल में दबाकर अन्तरधान होगए=रातों रात लखनऊ की सीमा पार कर गए, यह समाज का 'वाचा बन्द' रूप दूसरा दिव्य पराजय है।

३—दूसरे दिन का शास्त्रार्थ नियमानुसार दयानन्द कृत ग्रंथों पर होना चाहिये था, परन्तु समाज ने अपनी उत्तर न दे सकने की असमर्थता के कारण पुनः मूर्तिपूजा के लिये दुराग्रह किया जो सनातनधर्म्मियों ने स्वीकार कर लिया--यह समाज का नैतिक अधःपतन रूप तीसरा तीखा पराजय है।

४—'मूर्तिपूजा' एक ही विषय पर पहिले सत्यव्रत और फिर बिहारीलाल दो पण्डितों को क्रमशः खड़ा करना यह आर्य्यसमाज का 'यके बाद दिगरम' रूप चौथा चमत्कारपूर्ण पराजय है।

५—संस्कृत में शास्त्रार्थ होने का नियम भङ्ग करके हिन्दी में ही अपना पूर्वपक्ष स्थापित करने के लिये म० विहारालाल का गिड़गिड़ाना और तथैव करना यह समाज का संस्कृत शून्यता परिचायक पांचवां पक्का पराजय है।

६—समस्त शास्त्रार्थ में मूर्तिपूजा का निषेध करनेवाला एक भी मन्त्र पेश न कर सकना और अन्त में यह स्वीकार कर लेना कि वेद में मूर्तिपूजा का निषेध नहीं है और नांही मूर्तिपूजा करना पाप है यह समाज का अभूतपूर्व घोरतम छठा हीछालेदड़पूर्ण पराजय है।

७—आचार्य्य जी के पेश किये 'त्र्यम्बकं' मन्त्र के उत्तर में यज्ञाग्नि की तीन परिक्रमा की वैदिकता स्वीकार करते हुवे रुद्र की अष्टविध मूर्तियों में अन्यतम अग्नि की परिक्रमणात्मक पूजा की वैदिकता मान बैठना यह समाज का स्वयं स्वीकृत सातवां स्मरणीय पराजय है।

८—'मुखाय ते' मन्त्र के उत्तर में दबी जबान से ईश्वर की साकारता मानते हुवे भी उसे मूर्ति रहित कहते रहना एवं समाजी राजाराम के भाषाभाष्य का कुछ भी जवाब न देना अथ च वेदों को कल्पितकाव्य बताना और तत्प्रतिपादित ईश्वर स्वरूप को आलङ्कारिक कल्पना कह बैठना यह समाज का नास्तिकता परिचायक आठवां अद्भुत पराजय है।

९—'महावीर' मूर्ति की वैदिकता सिद्ध हो जाने से बौखला कर उसे, यज्ञाग्नि, यज्ञपात्र, हवनकुण्ड—अनिश्चित कुछ का कुछ कहना और आचार्य्य जी की इस उक्ति पर—कि—यजुर्वेद शतपथ कात्यायन सूत्र और उव्वट महीधर भाष्य इन सब में विस्तारपूर्वक उक्त महावीर की षोडशोपचार द्रव्यपूजा

एवं यजमान के कल्याण की प्रार्थना अङ्कित है—चुप रहजाना और महाशय जी के पेश किये कादम्बरी के मूलप्रमाण 'सनाथ मूर्तिभिः' में हो 'मूर्ति' शब्द निकल आना—यह समाज का सुचिरस्थायी नौवां अभिनव पराजय है।

१०—'मा असि' के उत्तर में— 'हे आग! तू हजार ईंटों का प्रमाण है'—ऐसा स्वयं कहते हुवे भौतिक अग्नि को वह्नेष्टिकाओं की प्रतिनिधिभूत प्रतिमा स्वीकार कर लेना यह समाज का दयनीय दशवां पराजय है!

११—वाल्मीकीय रामायण के अकाट्य प्रमाणों को विना प्रमाण मिलावट कह कर टाल देना और बौधायन सूत्र को महाभारत काल के बाद का बना बताकर एतावता उत्तरित समझ लेना [क्योंकि यह तो कोई दलील नहीं कि जो पुस्तक महाभारत काल के बाद बने हैं वे प्रमाणकोटी में नहीं आ सकते, इस तरह तो बहुत सी स्मृतियें, दर्शन, व्याकरण महाभाष्य और प्रायः सभी वेदाङ्ग अप्रमाण हो जायेंगे] यह समाज का ऋषियों के प्रति कृतघ्नतापूर्ण ग्यारहवां गुरुतर पराजय है।

१२—मनु के 'नित्यं स्नात्वा' प्रमाण के उत्तर में समस्त प्राचीन टीकाकारों को 'घोर पौराणिक काल में पैदा हुवे' बताकर अमान्य ठहराना और स्वयं उक्त श्लोक का कपोल-कल्पित अर्थ करना—यह समाज का धूर्ततापूर्ण बारहवां बेनज़ीर पराजय है।

१३—'यस्य पृथिवी शरीरम्' के उत्तर में स्वयं जलादि भौतिक पदार्थों को=ब्रह्माण्ड भर को परमात्मा का शरीर स्वीकार कर बैठना यह समाज का स्वयं स्वीकृत तेरहवां तात्विक पराजय है।

१४—दयानन्दी ग्रन्थों से—उस्तरा, पटेला, जूता आदि की पूजा-उपासना प्रार्थना निकल आने पर बेतहासा हाथ पांव मारना परन्तु अन्त तक समाज कृत जड़ पूजा का निराकरण न कर सकना अथच घबड़ाकर छुरे का अर्थ नाई और जूते का अर्थ गुरुकुल का स्नातक कर बैठना—यह समाज का घरेलू घपला पूर्ण चौदहवां चकित कर देने वाला पराजय है।

१५—वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों का दीवाला निकाल कर 'क़लम गोयद' और 'ऐ माटी के कूल्हड़ा' जैसी ग्राम्य उक्तियों पर उतर आना यह समाज का शास्त्र ज्ञानशून्यता परिचायक पन्द्रहवां पराभवपूर्ण पराजय है।

१६—इस शास्त्रार्थ में उत्तरदाता सनातनधर्म्मवादी था और प्रश्नात्मक पूर्वपक्ष स्थापनकर्ता आर्य्यसमाज प्रतिवादी था, तदनुसार आर्य्यसमाज का पक्ष था कि 'मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध है' परन्तु म० विहारीलाल जी ने प्रथम टर्न में क्या—अन्त तक भी—ऐसा कोई वेद मन्त्र उपस्थित नहीं किया जो कि मूर्तिपूजा का निषेध करता हो! ऐसी दशा में समाज स्वपक्ष परित्याग के कारण 'प्रतिज्ञाहानि' निग्रह स्थान में ग्रस्त हो गया, सो यह समाज का शोकप्रद सोलहवां पराजय है।

१७—पत्र व्यवहार में समाज ने पहिले—मूर्तिपूजा को वेद विरुद्ध सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की थी परन्तु फिर दूसरी बार 'मूर्तिपूजा व्यर्थ काम है' यह नई प्रतिज्ञा कर डाली इससे 'प्रतिज्ञान्तर' निग्रह स्थान उपस्थित हो गया, सो यह समाज का सत्रहवां सनसनी पूर्ण पराजय है।

१८—समाज में 'ईश्वर की प्रतिमा नहीं होती' इस प्रतिज्ञा के समर्थन में '···यस्य नाम महद् यशः' जिसका महान् यश है और नाम है—यह हेतु दिया, परन्तु यशस्वी और सुप्रसिद्ध नामधेय होना मूर्ति के अभाव का द्योतक नहीं, उलटा तादृश व्यक्तियों के चित्र बाहुल्य का परिचायक है। अतः प्रतिज्ञा और हेतु दोनों परस्पर विरोधी होने से 'प्रतिज्ञा विरोध' निग्रह स्थान उपस्थित हो गया—यह समाज का अठारहवां अतीव अवनति पूर्ण पराजय है।

१९—'पाषाणादि निर्मित जड़ मूर्ति चेतन ईश्वर की पूजा का साधन नहीं हो सकती'—ऐसी प्रतिज्ञा करके पुनः स्वयं ही माता पिता आचार्य के चेतन आत्मा को उनके शरीर द्वारा पूजने का परामर्श देना और पहिली प्रतिज्ञा से मुनकर हो जाना यह समाज का 'प्रतिज्ञा सन्यास' निग्रह स्थान जन्य उन्नीसवां उत्साह नाशक पराजय है।

२०—मूर्तिपूजा की अकरणीयता सिद्ध करने के लिये वेद विरुद्धता हेतु दिया गया परन्तु जब वेद में कोई मूर्तिपूजा निषेधक मन्त्र न मिल सका तो विरुद्धता हेतु का विशेषण 'अनुक्तता' दिया जाने लगा इस तरह 'हेत्वन्तर' निग्रह स्थान उपस्थित होगया, सो यह समाज का बीसवां बीसों विश्वा पराजय है।

२१—प्रकृत विषय 'मूर्तिपूजा की वेद विरुद्धता'—सिद्ध करते हुवे आधुनिक इतिहासकारों की अनावश्यक सम्मतियें लच्छेदार शब्दों में पेश करने से—'अर्थान्तर' निग्रह स्थान उपस्थित होगया—यह समाज का इक्कीसवां 'इति श्री सूचक' पराजय है।

२२--'प्रामाणिक शास्त्रार्थ' पृष्ठ १२ पंक्ति १६-१७ के लेखानुसार '''अगर यज्ञ भी मूर्तिपूजा है तो इसी पर मतलब यहां होली से है। पुरुषार्थ बढ़ाने से है। सब कीजिये, '''इत्यादि वाक्यावलि सर्वथा असम्बद्ध है—इसलिये 'अपार्थक' निग्रह स्थान ग्रस्त होने के कारण यह समाज का बाइसवां बाकमाल पराजय है।

२३—म० सत्यव्रत अपने निसर्ग सिद्ध हकलेपन के कारण 'अकायमन्त्रम्' को "ह क्'''क्'''क् क् ''हायं हव्व् हव्व् रणम्' बार २ कहते गए, परन्तु सभापति सभ्य तथा मुझे भी यह विदित न हो सका कि आखिर वे कह क्या रहे हैं—सो 'अविज्ञातार्थ' निग्रह स्थान प्राप्त होने के कारण यह समाज का तेइसवां आतङ्कपूर्ण पराजय है।

२४—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि पञ्चावयव वाक्य द्वारा यथा क्रम मूर्तिपूजा की वेद विरुद्धता समाज को सिद्ध करनी चाहिये थी, परन्तु विहारीलाल जी पहिली टर्न में आधुनिक समालोचकों की अधूरी आलोचनाएं पढ़ २ कर सर्व प्रथम हेतु दे बैठे और तीसरी टर्न में 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' यह प्रतिज्ञा प्रकट की, इस प्रकार क्रम विपर्य्यास के कारण 'अप्राप्तकाल' निग्रह स्थान उपस्थित हो गया—यह समाज का चौबीसवां चाञ्चल्य पूर्ण पराजय है।

२५—समस्त शास्त्रार्थ में महाशय जी दृष्टान्त और निगमन से अपने पक्ष का पोषण न कर पाए, अतः 'न्यून' निग्रह स्थान ग्रस्त होगए यह समाज का पच्चीसवां पाण्डित्याभाव परिचायक पराजय है।

२६--महाशय जी प्रत्येक टन में वेदोक्त ईश्वर—साकारता को कल्पित एवं रूपकालङ्कार मात्र पुनः पुनः कहते रहे, अतः 'पुनरुक्त' निग्रह स्थान उपस्थित होगया, यह समाज का छब्बीसवां भयङ्कर पराजय है।

२७--'मुखाय ते' के भाषाभाष्य में प्रो० राजाराम ने ईश्वर की सर्वाङ्गपूर्ण मूर्ति और उसका नमस्कारात्मक पूजन लिखा है सनातनधर्म की ओर से यह बात तीन बार कही जाने पर और सभापति तथा सभ्यगणों के सुन लेने पर भी इसका कुछ भी उत्तर न देना इससे 'अननुभाषण' निग्रह स्थान प्राप्त होगया यह समाज का सत्ताईसवां सड़ियल पराजय है।

२८—'सहस्रस्य प्रतिमा असि' के अनुसार यज्ञेष्टिकाओं के प्रतिनिधि सुवर्ण खण्डों की वेदोक्त पूजा से सभ्य और सभापति की दृष्टि में भी मूर्तिपूजा की वैदिकता आपाततः सिद्ध हो गई, परन्तु म० विहारीलाल जी इस रहस्य को तीन बार समझाने पर भी न समझ पाए अतः 'अज्ञान' निग्रह स्थान प्रस्त होगए--यह समाज का अट्ठाइसवां अत्युग्र पराजय है।

२९--'वेद में मूर्तिपूजा का निषेध कहां है ?—' सनातनधर्म के इस प्रश्न का महाशय जी को अन्त तक कुछ उत्तर न सूझा, अतः 'अप्रतिभा' निग्रह स्थान के आरोप से यह समाज का उनत्तीसवां उग्र पराजय है।

३०—मूर्तिपूजा के शास्त्रार्थ की समाप्ति के बाद दयानन्द कृत ग्रन्थों का शास्त्रार्थ, बहाने बनाकर टाल देने से 'विक्षेप' निग्रह स्थान लागू हो गया, यह समाज का तीसवां तीव्रतर पराजय है।

३१—आचार्य जी की ओर से प्रतिज्ञाहानि निग्रह स्थान का आरोप किये जाने पर उसे परिमार्जित किये बिना ही आचार्य जी पर 'वाक्छल' का लांछन लगाना 'मतानुज्ञा' निग्रह स्थान में जाना है यह समाज का इकत्तीसवां 'इदमित्थं' पराजय है।

३२—'वेद में मूर्तिपूजा का निषेध नहीं है'—यह कई बार कहा हुवा वाक्य महाशय जी लिखकर देने को भी प्रस्तुत हो गए। म० विहारीलाल जी के इस सुस्पष्ट पराजय को आचार्य जी ने शिष्टता से स्वयं व्यक्त नहीं किया इससे उपेक्षाजन्य-'पर्य्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रह स्थान लागू हो गया, यह समाज का बत्तीसवां विवेक भ्रष्टता सूचक पराजय है।

३३—आचार्य जी ने मूर्तिपूजा की वैदिकता रूप अपना पक्ष सिद्ध करने के बाद दयानन्दी ग्रन्थों से छुरा आदि जड़ वस्तुओं की उपासना दिखाई ऐसी दशा में 'मतानुज्ञा' निग्रह स्थान को अवकाश नहीं, तथापि महाशय जी ने उक्त निग्रह स्थान का मिथ्या आरोप किया इससे 'निरनुयोज्या नियोग' निग्रह स्थान में स्वयं फंस गए यह समाज का तेतीसवां तड़ातड़ पूर्ण पराजय है।

३४—इस शास्त्रार्थ में म० विहारीलाल का समस्त वक्तव्य केवल इस बात पर केन्द्रीभूत है कि वेद में मूर्तिपूजा का निषेध न सही—परन्तु विधान भी तो नहीं, अतः रोजा नमाज आदि यवनाचार की भांति अवैदिक है। यद्यपि सनातनधर्म्म की ओर से मूर्तिपूजा विधायक दर्शी अकाट्य वेद प्रमाण प्रकृत शास्त्रार्थ में दिये गए हैं तथापि यदि 'दुर्जन तोष' न्याय से क्षणमात्र के लिये यह मान भी लिया जावे कि मूर्ति पूजा की इति कर्तव्यता किसी प्रत्यक्ष श्रुति में नहीं है तो भी

'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसतिह्यनुमानम्' इस मीमांसा शास्त्र के अनुसार स्मृति इतिहासादि विदित मूर्तिपूजन के लिये निषेधक प्रत्यक्ष श्रुति के अभाव में अनुमित श्रुति द्वारा भी तो मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष श्रुति के अभाव हेतु से मूर्तिपूजा को अवैदिक सिद्ध करने का प्रयास 'सव्यभिचार' हेत्वाभास निग्रह स्थान ग्रस्त है यह समाज का चौंतीसवां चुस्त पराजय है।

३५—मूर्तिपूजा की अवैदिकता सिद्ध करने के ये समाजी ने प्रधान प्रमाण 'महाभारतमीमांसा' और 'कबीर वचनावलि' से दिये, ये आधुनिक दोनों ग्रन्थ--'स्वतः' 'परत' क्या—किसी भी प्रमाण कोटि में नहीं है अतः प्रथम इनकी वैदिकता ही साध्य है, सो 'साध्यसमहेत्वाभास' निग्रह स्थान प्राप्त हो गया। यह समाज का पैंतीसवां पाखण्ड परिचायक पराजय है।

३६--पत्रों में स्वीकार करके भी अन्त में दयानन्दकृत ग्रन्थों पर शास्त्रार्थ न करना और मूर्तिपूजा के शास्त्रार्थ को तोड़ मरोड़ कर मनमाने रूप में छापना यह समाज का छत्तीसवां छल प्रपञ्चपूर्ण महापराजय है।

इस प्रकार इस एक ही शास्त्रार्थ में आर्य्यसमाज लखनऊ की छत्तीस प्रधान हार हुई हैं, यदि आंशिक गौण हारों का सङ्कलन किया जाय तो अन्यून सैकड़ों पर नौबत पहुंचेगी उक्त ट्रैक्ट का कलेवर हमें ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता अतः अगत्या लेखनी को यहीं पर विश्राम दिया जाता है।

ॐ ओंशम् ॐ

परिशिष्ट !

महावीर स्पष्टीकरण–

म० विहारीलाल जी ने शास्त्रार्थ के अन्त में 'दयानन्द कृत ग्रन्थों का शास्त्रार्थ टालने के लिये' 'महावीर' शब्द पर विशेष विचार करने की इच्छा प्रकट की थी अथच 'प्रामाणिक शास्त्रार्थ' ट्रैक्ट के अन्त में भी दो तीन पृष्ठ काले करके महावीर प्रतिमा को साधारण पात्र सिद्ध करने का उपहासास्पद प्रयास किया है। मोर पक्षी को भगवान् ने गुह्य छिद्र के आच्छादनार्थ पर्य्याप्त पक्ष दिये हैं तथापि वह स्वयं उन पक्षों को ऊपर उठाकर अपना गुह्य छिद्र सर्वसाधारण को दिखा डालता है, इसी प्रकार उक्त महाशय जी को श्री आचार्य्य जी ने उपेक्षापूर्वक इनकी योग्यता का ढका ढोल बना रहने का काफ़ी मौका दिया, परन्तु फिर भी ये अपना पञ्चम अन्यथा-सिद्धत्व प्रकट किये बिना न रह सके। अस्तु, अब जरा कान की खिड़कियें खोलकर सुन लीजिये—हमारा पक्ष था--है—और रहेगा कि—'वेदों में-यज्ञ में महावीर की प्रतिमा बनाकर उसका विधिवत् पूजन करना लिखा है तथा उसके समस्त अङ्ग प्रत्यङ्गों का सुस्पष्ट वर्णन अङ्कित है' महाशय जी यत्र तत्र 'पात्र' शब्द देखकर फूले नहीं समाते, परन्तु आपको यह विदित नहीं कि यज्ञ में कलश भी तो एक पात्र ही होता है परन्तु वह केवल तत्तद् वस्तु भरने मात्र के काम में नहीं आता अपितु वह (कोऽसीतिद्रोणकलशम् (कात्यायन ६ । ७ । १४) इत्यादि प्रमाणानुसार सर्व देवों की प्रतिमा के रूप में पूजा जाता है, इसी प्रकार महावीर प्रतिमा

को यत्र तत्र पात्र शब्द द्वारा स्मरण करने मात्र से उसको अन्नादि डालने का कोठी कुठला किंवा घी गुड़ डालने का मार्ट वा कुल्हड़ समझ बैठना नितान्त भ्रान्ति है जैसे—'पात्राणामुत्तमं पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे' इस धर्म शास्त्र वाक्य को देखकर कोई अक्ल का कोल्हू सुपात्र ब्राह्मण को मटका पतीला सिद्ध करने का दुराग्रह करे, ठीक यही दशा महाशय बिहारी-लाल जी की है। नाटक के अभिनायक खिलाड़ियों को भी संस्कृत और हिन्दी में 'पात्र' ही कहा जाता है परन्तु एतावता वे सब मनुष्य के बजाए बर्तन नहीं बन जाते। कोशकार 'पारिपार्श्वक' और 'चेटी' आदि शब्दों की व्याख्या=नाटक के पात्र विशेष ही करेगा, परन्त इससे उनके मनुष्य होने में मूर्खों को ही भ्रान्ति हो सकती है। ठीक इसी प्रकार कोशकार की व्याख्या में महावीर को 'याज्ञिक पात्र' पढ़कर उसे पूज्य प्रतिमा के बजाए बर्तन समझ बैठना अक्षम्य अल्पज्ञता है।

महावीर का पूरा विवरण जानने के लिये आधुनिक कोश-फिर चाहे वह 'वाचस्पत्यभिधान' या अन्य कोई क्यों न हो पर्य्याप्त नहीं, क्योंकि कोशकार तो पर्य्याय शब्द किंवा पात्र भेद मात्र बताकर चुप हो जायेंगे, परन्तु वह साधारण पात्र होता है, किंवा पूजनार्थ सर्वाङ्गपूर्ण देव विग्रह होता है ?—यह निर्णय करना कोश का विषय नहीं, इसके लिये तो निम्न लिखित ग्रन्थों वा पते के अनुसार पारायण करना होगा तभी सबूत की तह तक पहुँचा जा सकेगा :—

यजुर्वेद—माध्यन्दिनी संहिता अध्याय ३६ से ३९ तक उव्वट महीधर भाष्य।

शततथ-काण्ड १४ अध्याय १ से अध्याय ३ की समाप्ति तक कौषीतकि (२।१) गोपथ उत्तर (२।६) ऐतरेय (१।२२) कौषीतकि (८।७) और (८।३) कात्यायन श्रौत सूत्र (२६।१।४) से (२६।७।५०) तक।

अब हम संक्षेप से महावीर की सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिमा का और उसके षोडशोपचार पूजन का स्पष्टीकरण करते हैं—

सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिमा का निर्माण

अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति। तन्मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति। प्रादेशमात्रं शिरः। त्र्यङ्गुलं मुखं। नासिकामेवास्मिन्नेतद् दधाति। (शतपथ १४।१।२।६-१७) अक्षिणी···कर्णावेवास्मिन् दधाति (शतपथ १४।३।२।१७) वाचं दधाति। नाभिः सपृथा। बाहूऽएवा० हस्तावेवा०ऽनूरऽएवा० जानुनीऽएवा० पादावेवास्मिन्नेतद्दधाति। (शतपथ १४।३।१।१६-२२) प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति (शतपथ १४-३।१।२१)

तात्पर्य—देवीद्यावापृथिवी (यजुः ३७।३) मन्त्र को पढ़कर दांये हाथ में जल मिश्रित बांबी की और सूकर की खोदी हुई मिट्टी का पिण्ड उठावे। मृगचर्म पर उत्तर दिशा में रख दे। उससे महावीर बनावे। प्रादेश मात्र शिर, तीन अंगुल का मुख, नासिका, आंख, कान, जिह्वा, नाभि, भुजाएं, हाथ, जंघायें, घुटने और पांव आदि समस्त अङ्ग बनावे प्राण प्रतिष्ठा करे। [ध्यान रहे इस प्रतिमा के निर्माण में प्रत्येक कार्य के लिये विभिन्न वेद मन्त्रों का विधान है]

महावीर नाम का निर्वचन

देवा वै सत्रं निषेदुः। विष्णुर्देवानां श्रेष्ठः। स आदित्यः तद्

घृङक्षित्यपतत्तस्माद् 'घर्मः' अथ यत्प्रावृज्यत तस्मात्प्रवर्ग्यः । ते देवा अब्रुवन् महान्वतः नोवीरोऽपादिति तस्मान्महावीरः । [शतपथ १४ । १ । ११]

भावार्थ—देवताओं ने यज्ञ किया । विष्णु सब देवों में श्रेष्ठ था । वह आदित्य है । वह 'घृङ्' ऐसा शब्द करता हुआ गिरा इससे उसका नाम 'घर्म्म' है । वह प्रकर्षता से उद्दीप्त हुआ इसलिये उनका नाम 'प्रवर्ग्य' है । वे देवता बोले हमारा महान् वीर पड़ा इसलिये उसका नाम 'महावीर' कहा जाता है ।

उपर्युक्त पंक्तियों में परोक्षवाद द्वारा महाविष्णु का प्रतिनिधि विराट् सूर्य्य प्रकट किया गया है और उसी के प्रतीक को 'महावीर' बतलाया गया है ।

वह कौन है ?

शिरोवा एतद् यज्ञस्य यन्महावीरः । (कौषीतकि ८ । ३) महावीर इन्द्र आदित्यो वा (यजुः ३६ । ८ उवट) परमेश्वरः महावीरः (यजुः ३८।८ महीधर) योऽयं महावीरोऽस्माभिः स्तुतः तद् आदित्यरूपं चक्षुः (उवट) महावीरो···चक्षुः जगताम् । (महीधरः) [यजुः ३६ । २४] हे महावीर ! त्वं नोऽस्माकं पिताऽसि (महीधर) [यजुः ३७ । २०]

अर्थात्—महावीर यज्ञ का मस्तक यानी मुख्य देवता है । महावीर इन्द्र वा आदित्य है । महावीर परमेश्वर है । यह जो महावीर हमसे स्तुति किया गया है वह विराट् का सूर्य रूप नेत्र है । महावीर जगत का नेत्र है । हे महावीर तू हमारा पिता है ।

षोड़शोपचार पूजन

अथैनं अद्भिः परिसिञ्चति । मार्जयन्ते । दधि घर्मेण चरन्ति । (शतपथ १४ । ३ । १ । २५-२६) अथैनान्धूपयति । महावीरमाज्येन समनक्ति । मध्वानक्ति । रजतश्रृंहिरण्यधमस्तादुपास्यति । आशिष आशास्ते ।

उत्तानेन पाणिना निहनुते । अभिमृश्य जपति । हिरण्यमुपरिष्टान्निदधति । उपहवमिष्ट्वा भक्षयति । साम गायति (शतपथ १४ । ३ । १ । ३१ तक) अजादुग्धेन त्रीन् महावीरांस्त्रिभिस्तुल्यमन्त्रैः सिञ्चति (महीधर) [यजुः ३७ । १०] महावीरं वेष्टयति (उवट) [यजुः ३७ । १३] प्राणोदानव्यानत्रयं महावीरे स्थापयामि (महीधर) [यजुः ३७ । १३] महावीरमुपतिष्ठते (उवट) [यजुः ३७ । १४]

भावार्थ—महावीर का जल से सेचन करे । मार्जन करे । दही के घोल से स्नान कराये । धूप दे । घी से स्नान कराये । शहद से स्नान कराये । नीचे चांदी और सोने का सिंहासन स्थापन करे । आशीर्वाद मांगे ऊपर को फैले हुए हाथ से मुद्रा करे । स्पर्श करता हुआ जप करे । ऊपर सोने का (छत्र) धारण कराये । भोग लगाकर प्रसाद भक्षण करे । सामगान करे । बकरी के दूध से मन्त्रपूर्वक तीनों महावीरों का स्नान कराये । महावीर का वस्त्र पहिनाए । प्राणादि की प्रतिष्ठा करे । महावीर की स्तुति करे ।

प्रार्थना—

गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानां (यजुः ३७ । १४) धर्ता दिवः···पृथिव्यां धर्ता···देवो देवानां मर्त्यः । श्लोकस्य धारयिता । देवानां च धर्ता । अजरामरः । (महीधर) [यजुः ३७ । १६]

पुत्रान् पशून् मयि धेहि। सह भर्त्रा भूयासम् (उवट) उत्तरोत्तर-वंशवृद्धिमस्मासु धेहि। भर्तृमती चिरं जीवेयम्। (महीधर) [यजुः ३७। २०]

भावार्थ—हे महावीर! तू सब देवताओं का उत्पत्ति स्थान है, ज्ञानियों का पिता है और प्रजाओं का पति है। द्यु: लोक और पृथिवी का धारण करनेवाला है। अजर अमर है पुत्र और पशु मुझे प्रदान कर [यजमान पत्नी कहे] मैं पति के साथ उत्तरोत्तर वंश वृद्धि करती हुई चिरंजीविनी बनूं।

महावीर प्रतिमा भग्न होने पर प्रायश्चित्त

प्रवर्ग्ये धर्म्मभेदे प्रायश्चित्तम्। तत्र स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति पूर्णाहुतिमाद्याम् उत्तमां च 'मनसः काममाकूतिमिति' (कात्यायन श्रौत सूत्र २६। ७। ४६) महावीरो यदि भिद्यते तदा प्रायश्चित्तहोमे प्रजापतिर्देवता (महीधर-यजुः ३६। ५) 'सविता प्रथमेहन्निति' च प्रत्यहम् (कात्यायन २६। ७। ५१)

तात्पर्य—यदि प्रवर्ग्य में महावीर प्रतिमा भग्न होजाए तो प्रायश्चित्त करना चाहिये। 'स्वाहा प्राणेभ्यः' इत्यादि मन्त्रों से लेकर पूर्णाहुति और 'मनसः काम' आदि मन्त्रों पर्य्यन्त सब विधान किया जाना चाहिये। महावीर यदि टूट जाए तो प्रायश्चित्त हवन में प्रजापति देवता है। यज्ञ के प्रथम दिन से लेकर बारहवें दिन पर्य्यन्त महावीर प्रतिमा यदि भग्न हो जाए तो 'सविता' आदि द्वादश देवता क्रमशः प्रायश्चित्तार्थ पूजने चाहियें।

इस प्रकार और भी बहुत से ऐसे प्रमाण हैं जो कि महावीर को साधारण पात्र के बजाय पूजनीय प्रतिमा सिद्ध करते हैं हम

ग्रन्थ विस्तार भयात् उन सब प्रमाणों को यहां उद्धृत करने में असमर्थ हैं क्या अब भी कोई ब्रह्माण्डभर का दयानन्दी सर्वज्ञ-पूर्ण, प्राणादिप्रतिष्ठासम्पन्न, एवं षोड़शोपचारपूजित महावीर प्रतिमा को 'कनबुच्ची' अथवा याज्ञिक शिकोरा वा कुल्हड़ बताने की धृष्टता कर सकता है ? भगवान् इन भ्रान्त आत्माओं को सुबुद्धि प्रदान करे। तथास्तु !

खेद प्रकाशन पत्र

[पं० बिहारीलाल आर्य्योपदेशक ने उक्त पुस्तक पर मान हानि का दावा किया था परन्तु अन्त में आचार्य जी से स्वयं क्षमा मांगी और मुकद्दमा खारिज हुआ। सम्पादक]

'मूर्तिपूजा पर प्रामाणिक शास्त्रार्थ' नामक पुस्तक में पृष्ट १ पर श्री पं० माधवाचार्य जी के सम्बन्ध में देववाणी के प्रसाद से वंचित अनुचित शब्दों पर पं० माधवाचार्य जी को आक्षेप है, और उन्होंने इन शब्दों को अनुचित समझा है इसके लिये मैं खेद प्रकट करता हूँ।

बिहारीलाल बदायूँ २३-५-३६

मेरी सम्मति से पं० बिहारीलाल जी ने यह लेख लिखा।

धर्मपाल विद्यालङ्कार बदायूं के प्रतिष्ठित आर्यसमाजी। २३-५-३६

(इस पत्र की हस्तलिखित प्रति हमारे पास सुरक्षित है जो चाहे देख सकता है।)

सम्पादक

माधव पुस्तकालय से प्रकाशित
नीचे लिखे ग्रन्थों का स्वाध्याय कीजिए

❀ पुराण दिग्दर्शन ❀

भारत के सभी धर्माचार्यों एवं चोटी के विद्वानों द्वारा प्रशंसित पुराणों की समस्त शंकाओं को भगा देने वाला एवं भारतीय साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाला अपूर्व ग्रन्थ, संशोधित तथा परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण पृष्ठ संख्या ६०० मू- ७)

❀ क्यों ❀

सनातन धर्म की अथ से लेकर इति पर्यन्त समस्त क्रियाओं के तादृश होने का सहेतुक विवेचन करने वाला ग्रन्थ मू० ७)

शास्त्रार्थ पचक २)

❀ सनातन धर्म ❀

गागर में सागर की भांति सनातन धर्म के समस्त सिद्धान्तों का अपूर्व संग्रह। परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण मू०॥।)

❀ चार शास्त्रार्थ ❀

हैदराबाद के जूता कागड का साद्यन्त वर्णन, ॥।)

❀ ॐ कार शिवलिंग ❀

शिवलिंग का वैज्ञानिक विवेचन ॥)

डाक्टरी गाइड नेट २)

कबीर चरितम ॥)

शास्त्रार्थ राजधनवार ।)

गोपाल सहस्रनाम स्तोत्र ।)

गृह लक्ष्मी ॥)

शिखा सूत्र ॥।)

लवड़ धों धों ॥)

श्री गणेश ॥)

विवाह विज्ञान ॥)

पुराण प्रश्नोत्तर माला ।)

आंख का शहतीर ।)

रास लीला ।)

कृष्णस्तु भगवान स्वयम ।)

मर्यादा पुरुषोत्तम राम ।)

राधा कृष्ण ।)

टुडे स्मृति ।)

हमारा गोधन ।)

ब्रह्मा पुत्री =)

विष्णु वृन्दा =)

चीर हरण =)

पराजय पञ्चक =)

पता:—माधव पुस्तकालय धर्मधाम, कमलानगर देहली